योग सिद्धान्तों और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

सिद्धयोग

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

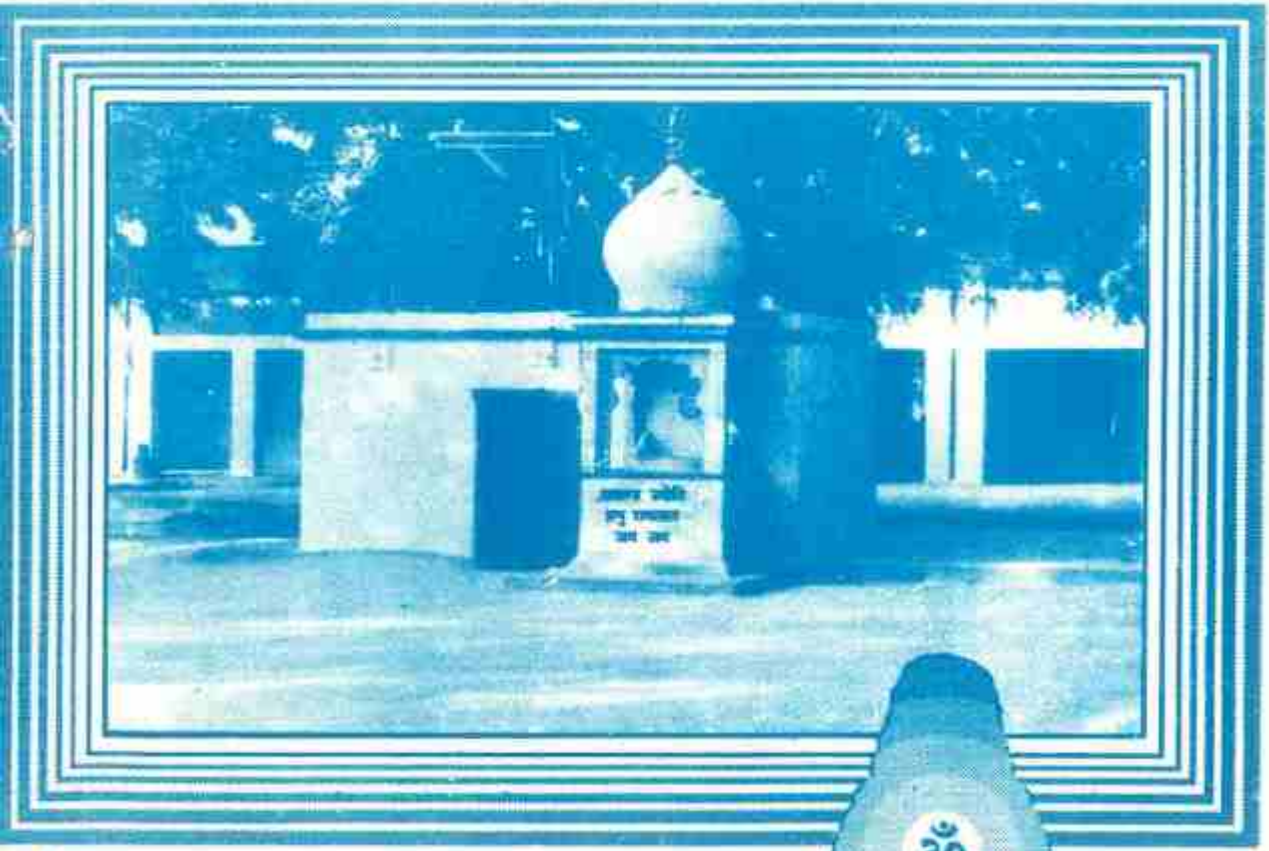

वर्ष 32 नवम्बर, 1999 अंक 8

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन
सवाई (आगरा)-283 202

SIDDHYOG
MONTHLY

संस्थापक :
योग-योगेश्वर अनन्त श्री
चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :
आचार्य ब्र० दासलाल शर्मा

संयुक्त सम्पादक :
श्री भुवनेन्द्र झा

प्रबन्ध सम्पादक :
ब्र० राजेशचन्द्र शर्मा
चन्द्रशेखर 'दिव्य'
आचार्य चन्द्रहास शर्मा
राजेश कुमार श्रीवास्तव

एक प्रति	रु० 8-00
वार्षिक शुल्क	रु० 75-00
द्विवार्षिक	रु० 140-00
आजीवन	रु० 750-00

इस अंक में

- देवतानां परमं..... 1
- अमृतकण..... 2
- विशेष लेख
  अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज.... 3
- सम्पादकीय..... 8
- नादानुसंधान और सुरतियोग साधना
  आचार्य चन्द्रहास शर्मा..... 10
- किमस्ति योगः
  द्वारिका प्रसाद शर्मा..... 16
- सर्व समर्थ गुरुदेव, सद्शिष्य एवं सहीमार्ग
  केशव देव उपाध्याय..... 20
- ज्ञानयोग और भक्तियोग
  डा. स्वामी केशवाचार्य..... 24
- पूर्ण सद्गुरु की पूर्ण कृपा—एक प्रसंग
  श्रीमती सरिता भारद्वाज..... 30
- योग स्वरूप दिग्दर्शन
  श्री आनन्दघनरामजी..... 33
- त्याग और लोकसेवारूप योग
  रेवरेण्ड आर्थर ई० मैसी..... 37

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, संवाई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष 32
अंक 8

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः।
तत्राप्यर्थान् बहुतर विषदान योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणानां भवत् महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

नवम्बर
1999

देवतानां परमं

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं
तं देवतानाम् परमं **च** दैवतम्।
पतिं पतीनां **परमं** परस्ताद्
विदाम **देवं** भुवनेशमीड्यम्।।

(श्वेताश्वेतरोपनिषद ६/७)

अर्थात्

वे परब्रह्म पुरुषोत्तम समस्त ईश्वरों के, लोकपालों के भी महान् शासक हैं, अर्थात् वे सब भी उन महेश्वर के अधीन रहकर जगत् का शासन करते हैं। समस्त देवताओं के भी वे परम आराध्य हैं, समस्त पतियों–रक्षकों के भी परम पति हैं तथा समस्त ब्रह्माण्डों के स्वामी हैं। उन स्तुति करने योग्य प्रकाश स्वरूप परमदेव परमात्मा को हम लोग सबसे पर जानते हैं। उनसे पर अर्थात् श्रेष्ठ और कोई नहीं है।

अमृत कण

सदाचार

धर्मोऽस्य मूलान्यएव: प्रकाण्डो
वित्तानि शाखाच्छादनानि कामा:।
यशांसि पुष्पाणि फलं च पुण्य—
मसौ सदाचारतरुर्महीयान् ॥ (वामन पुराण)

सदाचारी रुपी महान् वृक्ष का मूल धर्म है। काण्ड (तना) आयु है, शाखा धन है, पत्र कामना है। और फल पुण्य है। इस प्रकार यह कल्पतरु महामहीयान है।

* * *

अनाचारस्तु मालिन्यमत्याचारस्तु मूर्खता।
विचाराचारसंयोग: सदाचारस्य लक्षणम्॥ (बोधसार)

अनाचार से मनुष्य के चित में मलिनता होती है और आवश्यकता से अधिक आचार करना मूर्खता (या दम्भ) कहा गया है। अत: विचारपूर्वक जो आचार किया जाता है, वही सदाचार कहलाता है।

* * *

सर्वलक्षणहीनोऽपि य: सदाचारच्चानर:।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति॥

(महाभारत अनुशासन पर्व १०४/७४)

समस्त लक्षणों से हीन होता हुआ भी जो सदाचारी और श्रद्धालु है और जो दूसरों पर दोषारोपण नहीं करता, वह सौ वर्षों तक जीवित रहता है।

* * *

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहित:।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

(कठोपनिषद् १/२/२४)

प्राणी जब तक दुराचार से निवृत नहीं होता, इन्द्रिय दमन नहीं करता और उसका चित्त शान्त नहीं होता, तब तक वह केवल ब्रह्मज्ञान से भी परमात्मा की प्राप्ति नहीं कर सकता।

विशेष लेख

योग साधना का लक्ष्य

योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

योग शास्त्र के ग्रन्थों में योग साधना का लक्ष्य बड़ा सूक्ष्म और गहरा बताया गया है। वहाँ योग–साधना का लक्ष्य 'पुरुष प्रकृति विवेक' है। **'सत्व–पुरुष्योशुद्धि साम्ये कैवल्यम्'** अर्थात् जहाँ पर प्रकृति पुरुष का शुद्धि साम्य हो जाये, पुरुष (आत्मा) अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाये और बुद्धि अपने कारण मूल प्रकृति में लय हो जाये, उसे शुद्धि साम्य कहते हैं। यही 'कैवल्य' कहलाता है। केवली भाव अर्थात् अकेलापन (परम एकांत)। मैंने बुद्धि और पुरुष का सम्बन्ध बताया था। आत्मा निर्मल ज्योति है, बुद्धि जड़ है आत्मा के सामने बुद्धि आई। आत्मा की चेतनता बुद्धि पर गड़ी और बुद्धि ने अपना रूप आत्मा को दिखा दिया। इससे आत्मा बुद्धि बोधात्मा अथवा प्रत्ययानुपश्य बन गया। उदाहरण देकर मैंने समझाने का प्रयत्न किया था, जैसे कि निर्मल ज्योति के सामने लाल शीशा आ जाये ज्योति लाल दिखाई देती है, पीला शीशा आ जाये ज्योति पीली दिखाई देती है। जड़ और चेतन की गाँठ। प्रत्ययानुपश्य को खत्म करना ही योग दर्शन का लक्ष्य है। निर्बीज समाधि के अन्दर द्रष्टा पुरुष अपने स्वरूप में रहा करता है **'तदा दृष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'** निर्बीज समाधि में द्रष्टा अपने स्वरूप में अवस्थित होता है वह स्वरूप प्रतिष्ठा कैसे होती है ? इसका उत्तर जैसा कि चितिशक्ति का केवल्य में रहना। भगवान् ने गीता में आत्मा के स्वरूप को बताया है।

'अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्ले द्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।।'

यह अच्छेद्य है, अर्थात् इसको काटा नहीं जा सकता अदाह्योऽयम् 'इसे जलाया नहीं जा सकता, अक्लेद्यो' इसे जल गीला नहीं कर सकता, अशोष्यः' इसे वायु सुखा नहीं सकती। यह आत्मा नित्य है, सर्वव्यापी है, एक जैसे रहने वाला है, अचल और सनातन है। समाधि के अतिरिक्त अर्थात् व्युत्थान काल में आत्मा **'वृत्ति सारुप्यमितरत्र'** के अनुसार वृत्ति सारुप्य' अवस्था को प्राप्त हो जाती है। **'सदृशम् चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि'** ज्ञानी लोग भी अपने स्वभाव के अनुसार चेष्टायें किया करते हैं। सृष्टि में गुण विस्तार के कारण भिन्नता है। भगवान् राम का स्वभाव दूसरे प्रकार का है, भगवान कृष्ण का स्वभाव दूसरे प्रकार का है, भगवान शिव का स्वभाव कुछ और प्रकार का है। दुर्वासा ऋषि का स्वभाव कुछ और प्रकार का है—उनका क्रोधी होना प्रख्यात है। ये सब उनका आत्मिक विकार नहीं है, बुद्धि के धर्म है जिसमें वर और शाप दिया करते हैं। यह आत्मा का स्वरूप नहीं है। मैंने तुम्हें चित्त की पाँच प्रकार की भूमियाँ कई बार समझाई हैं। इनमें सबसे पहले 'मूढ़ावस्था' वाले प्राणी होते हैं। ये तमोगुण प्रधान प्राणी होते हैं। मनुष्य में ऐसे प्राणी दूसरों को कष्ट देते हैं लड़ाई झगड़ा करते हैं, अथवा 'प्रमादालस्य एवं निद्रा में ही पड़े रहते हैं। दूसरे होते हैं 'क्षिप्तावस्था' के प्राणी ऐसे प्राणियों का चित्त पूर्णतया रजोगुण से व्याप्त रहता है। इनकी भी पारमार्थिक प्रकृति नहीं होती है। इन लोगों का ईश्वर में, सिद्धों में, लोक

परलोक में विश्वास नहीं होता। **'यावत् जीवेत् सुखं जीवेत ऋणं कृत्वा घृतम् पिवेत्'** का इनका सिद्धान्त होता है। इन्द्रिय सुख में लगे रहते हैं अन्याय से बने अथवा किसी की हत्या करके भी धन मिलता हो तो उस में भी ऐसे लोग पीछे नहीं रहते। तीसरी भूमि के प्राणी 'विक्षिप्तावस्था' के होते हैं। **''क्षिप्ता विशिष्टम् विक्षिपत्म्''** क्षिप्तावस्था से जो श्रेष्ठ होते हैं वे विक्षिप्तावस्था वाले होते हैं। इनमें सतोगुण प्रधान रहता है, रजोगुणतमोगुण गौण रहा करते हैं। सतोगुण प्रधान होने से इस श्रेणी के प्राणी श्रद्धालु हुआ करते हैं। **'श्रद्धा चेतस: सम्प्रसाद:'** अर्थात् चित्त की प्रसन्नता ही श्रद्धा है। श्रद्धा, योगी की माँ की तरह रक्षा करती है। श्रद्धा के उदय होने पर सतोगुण का विकास होगा। धीरे–धीरे उसमें दैवी सम्पत्ति आ जायेगी। भगवान् ने गीता में दैवी सम्पत्ति का फल बताया है **'दैवी सम्पद्विमोक्षाय'** अर्थात् दैवी सम्पत्ति मुक्ति का कारण बन जाती है।

विक्षिप्तावस्था वाले मनुष्य में श्रद्धा होती है, इस कारण से परमार्थ में उनकी प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है। चौथी श्रेणी के लोग **'एकाग्रावस्था'** वाले होते हैं। इनमें सतोगुण का पूरा–पूरा विकास हो जाता है। यहीं से योग प्रारम्भ होता है। इस से पहले की तीन अवस्थाओं में योग नहीं माना गया। इस अवस्था के उदय होने पर मनुष्य अन्तर्मुखी बन जाता है। रुहानी दृश्य सामने आते हैं। **'ईशाद्या: सकला: देवा: दृश्यन्ते परमात्मनि'** अर्थात् उस परम तेज ईश्वर के अन्तर सभी देवी देवता दिखाई दिया करते हैं। इससे आगे **निरोधावस्था** आती है। इस से योगी की **निर्बीज समाधि** होती है। निर्बीज में माया का बीज समाप्त हो जाता है। तब योगी अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। मैंने तुम्हें पिछले व्याख्यानों में यह भली प्रकार से समझाया था कि योगी दो प्रकार के होते हैं। **'भव प्रत्यय'** वाले तथा दूसरे **'उपाय प्रत्यय'** वाले। **''भवप्रत्ययो विदेह प्रकृतिलयानाम्''** अर्थात् विदेह कोटि के देवता तथा प्रकृति लीन योगियों को भव प्रत्यय होता है। भव प्रत्यय वाले को जन्म से ही योग की प्रतीति होती है। भव प्रत्यय वाले यह समझते हैं कि हमें कैवल्य की प्राप्ति हो गई है। **'कैवल्य पदमिव अनुभवन्त:'** अर्थात् कैवल्य पद का अनुभव सा करते हैं। किन्तु उन्हें अभी कैवल्य प्राप्त नहीं होता क्योंकि तब तक उनके पास अनुभव करने वाला मन और बुद्धि रहते हैं। अत: चित्त अधिकार अर्थात् बीज वाला है। अधिकार में पुनरावर्तन हुआ करता है। विदेह देवता देह धर्म से आगे हो गये होते हैं ये ब्रह्मलोक के जीव हुआ करते हैं। उनको तो संकल्प से ही ज्ञानेन्द्रियाँ हो जाती हैं। **'जिघ्रन् नासिका भवति'** यदि वे सूँघना चाहे तो नासिका अपने आप हो जाती है। **पश्यन् चक्षुर्भवति** अर्थात् देखना चाहें तो आँखें ही आँखें हो जाती हैं। **'स्पर्शनत्यग् भवति'** यदि किसी को छूना चाहे तो त्वक् हो जाती है अर्थात् दूर दर्शन दूर श्रवण की योग्यता इनमें स्वाभाविक हुआ करती हैं। संकल्प से ही आँख, कान, नासिका आदि हो जाते हैं। मनुष्य की इन्द्रियों की शक्ति सीमित है। भगवान ने गीता में योगियों के लिये साधना क्रम अथवा कोर्स इस प्रकार बताया है।

इन्द्रियाणि पराण्याहु: इन्द्रियेभ्यो परंमन:।
मनसस्तु पराबुद्धि: यो बुद्धे: परतस्तु स:।।

अर्थात् पहले योगी इन्द्रियों का साक्षात्कार करे इसके पश्चात् मन का साक्षात्कार करे, फिर बुद्धि का साक्षात्कार करे और बुद्धि से परे उस आत्मा का साक्षात्कार करे। इन्द्रियाँ हमारी पूरी शक्ति वाली नहीं है। वस्तुत: तो इनका दायरा बहुत ज्यादा नहीं है। लेकिन, योग–साधना से ही इसके दायरे को विस्तृत बनाया जाता है। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ कहाँ से उत्पन्न हुईं, इसे जानो। देखो ! घ्राणेन्द्रिय का सम्बन्ध गंध तन्मात्र से है। **'तत्र गन्धवती पृथ्वी'**

अर्थात् पृथ्वी में गन्ध है। जब योगी योग साधना से घ्राणेन्द्रिय का साक्षात्कार करेगा तो जहाँ–जहाँ तक पृथ्वी का विस्तार है, जहाँ–जहाँ तक गन्ध तन्मात्र है वहाँ तक के सुगन्ध या दुर्गन्धि को योगी ग्रहण कर ले, तब समझ लेना चाहिये कि घ्राणेन्द्रिय का साक्षात्कार हो गया। साधारण मनुष्य जीभ से खट्टे–मीठे स्वाद का ही अनुभव करता है। किन्तु, साधना से जब हम रसनेन्द्रिय का साक्षात्कार करेंगे, तो जहाँ तक जल है, क्योंकि जीभ की उत्पत्ति जल से है, चाहे वह व्यक्त रूप में हो अथवा अव्यक्त रूप में, वहाँ तक के सारे रस का साक्षात्कार हो जायेगा। इसी प्रकार आँखों का सम्बन्ध अग्नि से है। रूप तन्मात्र अग्नि का कारण है। अग्नि जहाँ तक है वहाँ तक आँखों से देख सकता है। तुम यह जानते हो कि अग्नि सब जगह है, जल में भी अग्नि है पत्थर में दीवार में अग्नि सर्वत्र विद्यमान है। जब योगी नेत्रेन्द्रिय का साक्षात्कार कर लेता है तो उसे हजारों मील दूर की दिखाई दे जाती है अथवा जहाँ तक अग्नि का दायरा है वहाँ तक सभी कुछ देख लिया करता है। इसी प्रकार से त्वग् से दिव्य स्पर्श का अनुभव करता है। शब्द तन्मात्र कर्णेन्द्रिय का विषय है। आकाश जहाँ तक है ब्रह्माण्ड में जितने भी शब्द हैं, उन शब्दों को, कर्णेन्द्रिय के साक्षात्कार हो जाने पर सुन सकते हैं। मैं अपने एक गुरु भाई को जानता हूँ, जिन्होंने ऋषिकेश बैठे–बैठे ही बरसाने में हो रही घटना को देख लिया था और दण्ड भी दिया था। श्री प्रभु जी के चरणों में ऐसे अलौकिक चरित्र हम लोग दिन रात देख सकते थे। उनके कई बच्चों में भी ऊँची–ऊँची स्थिति वाले व सामर्थ्यवाले थे। अखिलात्मा भगवान ने गीता में युक्त योगी के लक्षण बताएँ हैं–

ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकांचनः।।

ज्ञान तृप्तात्मा वह होता है, जिसने प्रकृति के सारे विश्लेषणों को समझ कर प्रकृति पर हुकूमत प्राप्त कर ली हो और **विज्ञानतृप्तात्मा** वह होता है जिसने पूर्ण रूप से आत्म साक्षात्कार कर लिया हो। मिट्टी पत्थर सोना जिसके लिये समान है, वह युक्त योगी कहा गया है। आनन्द कन्द श्री प्रभु जी नैपाल हिमालय से आकर अपने ध्यानी बच्चों को, ध्यान में बैठाया करते थे। उनका पहला काम था कि वे ध्यान में पहले भूमण्डल के सारे दृश्यों को दिखाया करते थे, पाँच भौतिक दृश्य–आग्नेय समुद्र आदि–आदि दिखाने के साथ–साथ गन्धर्व पितर–स्वर्गादि लोकों को दिखाते थे। तत्पश्चात् उनमें से निकाल कर उसे आत्मदर्शन की ओर ले जाया करते थे। यह प्रभु जी का ध्यान अभ्यास कराने का क्रम था। हमारे भी ध्यानाभ्यासी बच्चे ऐसे हुये हैं। मैं तुम्हें रमण गिरी साधु के विषय में बताया करता हूँ। वह संन्यासी था। हमारे पास आकर योग दीक्षा ली। भगवान शंकर की आराधना पहले करता था। श्री प्रभु जी की कृपा से ध्यान स्थिति ऊँची बढ़ गई। वह भी लोक लोकान्तर में जाया करता था। स्वर्ग में इन्द्र सभा में जाया करता था। हमारे आश्रम में आने जाने वाले साधकों में ही एक नत्थू राम काका थे। अच्छे साधक थे। एक बार राम लीला के दिनों में नत्थू राम ने उस महात्मा से कहा–चलो ! नागे ! तुम्हें राम लीला दिखा कर लायें। महात्मा कहने लगा– काका जी ! तुम राम लीला देखने जाओ और मैं तुम्हें देखूँगा। तुम क्या–क्या करते हो और कहाँ जाते हो। ऐसा कह कर वह ध्यान में बैठ गया और सूक्ष्म शरीर से उसके साथ हो लिया। सारा दृश्य देखता रहा। जब नत्थू राम वापिस लौटे तो रमणी गिरी कहने लगा–काका जी बताऊँ आश्रम से जाने के बाद तुम कहाँ–कहाँ गये और क्या–क्या किया। उन्होंने कहा बता ! हमने क्या–क्या किया ?' महात्मा ने कहा–सबसे पहले आश्रम से बाहर निकलने के बाद तुमने एक बीड़ी पी ! उससे आगे तुम्हें ठा. घमण्डी सिंह मिल गया, तुम उसके साथ–साथ बाजार गये। आपस में मजाक करते हुये जा रहे थे। उसके बाद एतमादपुर पहुँच

कर राम लीला देखने लगे। तुम्हें भीड़ के कारण खड़े होने को जगह नहीं मिल रही थी, इसलिये तुम ला. भगवान दास की दुकान पर चढ़ गये। राम लक्ष्मण की बारात निकल रही थी। इस में लक्ष्मण जी नीलवर्ण के थे और राम जी गौर--वर्ण के थे। इस तरह से राम की बारात देखने के बाद तुम फिर वापिस आये ! आश्रम से दूर डोरे (सीमा) के पास तुमने बीड़ी पीकर लघुशंका की और इस तरह से आश्रम वापिस आ रहे हो। नत्थू राम ने मान ली कि वास्तव में बात ज्यों की त्यों सत्य है। वह साधु स्वर्ग के दृश्यों को देखने लगा था। मैंने तुम्हें पहले भी बताया हुआ है कि जब योगी सम्प्रज्ञात की दूसरी श्रेणी में पहुँचता है, तब उसके मार्ग में देवता अन्तराय पैदा कर दिया करते हैं, तब उसे भ्रान्ति दर्शन होने लगता है। उसके साथ भी यही हुआ देवताओं ने उससे कहा कि तुम वृन्दावन में कुसुम सरोवर पर आ जाना, वहाँ तुम्हें एक देव कन्या मिलेगी।' वह चुपचाप आश्रम से बिना किसी को बताये वृन्दावन चला गया, वहाँ तीन दिन व तीन रात तक भूखा प्यासा पड़ा रहा। किन्तु कहीं देव कन्या नहीं आयी। हाँ वहीं की किसी लड़की से सम्पर्क हो गया और भ्रष्ट हो गया। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि उत्थान तो होता है, किन्तु साधक सङ्गदोष से बचा रहे। **'निर्मानमोह जित सङ्गदोषाः'** यह भगवान का साधक के लिये संकेत है। यदि साधक जितेन्द्रिय नहीं है, तो शक्ति उसका साथ छोड़ देती है। शरीर में वीर्य ही ब्रह्म है। ब्रह्मचर्य का फल योग दर्शन में लिखा है कि **ब्रह्मचारी विनयेषु शक्तिमाधातुं समर्थो भवति** अर्थात् एक ब्रह्मचारी अपने शिष्यों में शक्ति पात कर सकता है। किन्तु जो इन्द्रियलोलुप है, वह शक्ति पात नहीं कर सकता। अस्तु ! मैं तुम्हें भव प्रत्यय वाले योगियों के विषय में बता रहा था। विदेह देवता और प्रकृतिलीन वे होते हैं जो गन्धतन्मात्र में लय हो जाते हैं, रूप तन्मात्र में लय हो जाते है, रस तन्मात्र में लय हो जाये या बुद्धि के सात्विक महाभावों में लय हो जायें यह भी प्रकृतिलयता है। वह बुद्धि के धर्मों में लय हो जाता है। अपने इष्टदेव को सर्वत्र देखता है। अन्त में समझ लेता है। **'प्राप्तं प्रापणीयं, छिन्नःश्लिष्टपर्वः भव संक्रमः'** अर्थात् जो प्राप्त करनी चाहिये वह मैंने प्राप्त कर लिया है। पौड़ी दर पौड़ी स्थित इस जन्म चक्र को मैंने काट दिया है। किन्तु योगियों में एक विशेष बात यह होती है कि वह किसी से कुछ माँगते नहीं हैं। वे लोग अपने अन्दर शक्ति पैदा करते हैं, जिनसे वरदान व शक्ति लेते हैं वह भी योगी ही होते हैं। साधना करते--करते ये लोग भी शक्ति सम्पन्न हो जाते हैं। सिद्धता को प्राप्त हो जायेंगे। 'ईश्वर' को महासिद्ध कहा जाता है। वह अनादिसिद्ध हैं। क्लेश कर्म विपाक एवं आशय के चक्कर में जो कभी आया ही नहीं, उसे ईश्वर कहते हैं। दूसरे योगी भी साधना करते--करते क्लेश कर्म से छूट जाते हैं, निर्बीज समाधि तभी होगी जब वे क्लेश बंधन से पूर्ण रूप से टूट जायेंगे। योगी क्लेश बंधन से छूटने के लिये ही सारा पुरुषार्थ करता है। योग ही ऐसी विद्या है जिसके जान लेने पर सभी कुछ जाना जा सकता है।

'यस्मिन् ज्ञाते सर्वमिदं ज्ञातंभवति'

सर्वज्ञता एवं सर्वव्यापकता योग से ही संभव है। इसलिये तुम सब अपने आप को योग ध्यान परायण बनाओ। जब तक शरीर में रजोगुण, तमोगुण रहेगा तब तक मृत्यु के समय प्राण का घर्षण होगा ही होगा। उस घर्षण के दुःख में न कृष्ण चन्द्र याद आयेंगे, न कोई और याद रहता है। उस समय प्राणों के घर्षण के समय शुभ चिन्तन नहीं होगा। अशुभ चिन्तन से **'अधो गच्छन्ति तामसाः'** के अनुसार निम्न योनियों में प्राणी चला जाता है। किन्तु जो ध्यान योगी हैं उनमें सतोगुण की वृद्धि हो जाने के कारण, शुभ्र प्रकाश में शरीर छोड़ते हैं, सद् गति को पाते हैं। इसलिये अपने को योग ध्यान परायण बनाओ। जो इस मार्ग में बढ़ेंगे, वे सर्व शक्तिमान उनकी अवश्य सहायता करेंगे। बार--बार आशीर्वाद।

* * *

● संपादकीय

व्यवहार में योग

योग का लक्ष्य है चित्त वृत्तियों का प्रवाह रोक देना। योग की दो स्थितियाँ बनती हैं। एक स्थिति में तो साधक वृत्तियों का शोधन कर दिव्य वृत्तियों का धारण करता है इसे **सम्प्रज्ञात योग** कहा गया है। दूसरी स्थिति में दिव्य वृत्तियों का भी शमन होकर समाधि में चित्त का अपने कारण में लय हो जाने पर वृत्तियों का पूर्ण निरोध हो जाता है—जिसे हम **असम्प्रज्ञात समाधि** कहते हैं। चित्त के कारण में लय होने पर वृत्तियों का अस्तित्व भी नहीं रहेगा। मूल के नष्ट हो जाने पर शाखायें भी नष्ट हो जाती हैं। उस समय फिर न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी की उक्ति चरितार्थ हो जाती है। सामान्य अवस्था में हमारे चित्त के दो खाते खुले हुये हैं—एक है आध्यात्मिक संस्कारों का खाता, दूसरा है सांसारिक संस्कारों का खाता। हम लोग प्राय: पाप—पुण्यात्मक कर्म करते रहते हैं। वह कर्म संस्कार (रिकार्ड) के रूप में परिणाम देने के लिये चित्त में पड़े रहते हैं। हम लोग दो ढाई घण्टा ध्यानाभ्यास करते हैं। उस समय हमारा अध्यात्म खाता खुल जाता है, हमारे संस्कार उस खाते में जमा हो जाते हैं। इस प्रकार से हमारा अध्यात्म धन एकत्रित हो जाता है। किन्तु ध्यान के अतिरिक्त व्यवहार के समय हमारा अध्यात्म धन खर्च होने लगता है। इस प्रकार जितना हम कमाते हैं वह खर्च होता जाता है। किन्तु खर्च करने का ढंग सबका अलग—अलग है। हर मनुष्य अपने स्वभाव व संस्कार से बँधा हुआ है। उसी के अनुसार उसकी प्रवृत्ति एवं व्यवहार हुआ करता है। अपनी असंयत प्रवृत्तियों के कारण मनुष्य अपने कमाए हुए योग धन को गवाँ देता है। यद्यपि दया, क्षमा, धैर्य आदि गुण व्यक्ति में जन्मजा होते हैं किन्तु शिक्षा, सत्संग एवं श्रेष्ठ पुरुषों के संग से भी हमारे चरित्र में परिवर्तन आता है। जीवन में अच्छी आदतें हमारे चरित्र को प्रभावित करती हैं। अंग्रेजी में एक कहावत है—Character is a bundle of habits अर्थात् आदतों का समूह ही चरित्र बन जाता है। यदि मनुष्य को अच्छे माता—पिता, मित्र एवं आचार्य मिल जायें तो अवश्य ही उसका जीवन सुसंस्कृत, सहिष्णु, संयत एवं अनुशासित होगा। मनुष्य सामाजिक प्राणी है उसे समाज के साथ मिलकर जीवन जीना होता है। साधना का मोटा अर्थ यह भी है कि हम अपने अन्दर श्रेष्ठ दैवीय गुणों को धारण करने का प्रयत्न करें। इसका फल यह होगा कि हम योगध्यान से अर्जित अपनी मानसिक शक्ति को सुरक्षित रख सकेंगे। योग दर्शन में भगवान पतंजलि जी ने साधकों के लिये एक सूत्र में चार बातें रख दी हैं जिनको अपनाने पर हम समाज में मधुर व्यवहार के साथ जी लेंगे तथा साथ ही हमारा ध्यानजन्य पुण्य का ह्रास नहीं होगा। उन चार धारणीय बातों में प्रथम है **सुखी व्यक्तियों के प्रति मैत्रीभाव**। मनुष्य में अज्ञान रहने के कारण वह अपने भाई को, पड़ोसी को तथा अन्य लोगों को सुखी देखकर ईर्ष्या करने लगता है। इसे शास्त्रों में 'अमर्ष' नामक दोष कहा गया है। पतंजलि जी कहते हैं कि सुखी, समृद्ध, एवं वैभवशाली हर व्यक्ति के धन, वैभव को देखकर हमें अपने अन्दर मैत्री भाव पुष्ट करना होगा। यह साधक का बहुत बड़ा बल बन जायेगा। सूत्र की दूसरी धारणीय बात है **दुखी व्यक्तियों के प्रति करुणा भाव रखना**। महान पुरुषों का एक महान गुण होता है **करुणा**। वे करुणामूर्ति होते हैं। यदि गुरुदेव भगवान करुणा न करें तो अतिनिकृष्ट एवं क्षुद्र वृत्ति वाले हम लोगों का उद्धार कैसे हो ? वे क्यों अधम से अधम व्यक्ति को अपनी शरण में लें ? सद्गुरु के करुणा भाव की प्रवणता के कारण ही अधमों को त्राण मिलता है। दया सन्तों के जीवन का अभिन्न अंग होता है। **दया बिन सन्त कसाई**। दयाहीन व्यक्ति कभी सन्त नहीं बन सकता। वह भक्त भी नहीं

बन सकता। गीता में भगवान ने आसुरी गुणों के वर्णन में 'क्रोधः पारूष्यमेवच' इस वाक्य से आसुरी व्यक्ति के स्वभाव को दर्शाया है। दया को धर्म का मूल कहा गया है। समाज में मनुष्य दुःखी, बीमार को देखकर प्रायः कह दिया करते हैं—'अजी ! अपने–अपने कर्मों का भोग है। यह अपने पाप का परिणाम भोग रहा है भोगने दो। यह तो ठीक है कि दुःख क्लिष्ट कर्मों का फल होता है किन्तु यह तो न चाहते हुये भी सभी को कभी न कभी घेर ही लेता है। अच्छे–अच्छे सत्कार्य करने वाले सन्तों के जीवन में भी दुःख आ जाया करते हैं। व्यक्ति कब का संस्कार कैसे भुगतान कर रहा है इस बात को साधारण मनुष्य नहीं जान सकता। गुरूजन तो अपने भक्तों के कठिन संस्कारों और बीमारियों को अपने शरीर पर लेकर स्वयं भुगतान कर दिया करते हैं। आनन्दकन्द श्री प्रभु जी एवं गुरूदेव श्री चन्द्रमोहन जी महाराज प्रायः ऐसा किया करते हैं। इसलिए दुःखी व्यक्ति के प्रति करुणा भाव रखने से यह भाव आपके मनोबल को विकसित करेगा। योग साधना के प्रारम्भ में ही पहला व्रत है **अहिंसा** ! अहिंसा व्रत का पालन भी तभी होगा जब आप के अन्दर दयाभाव हो। अठारह पुराणों के सार में वेद व्यास जी ने दो ही बात सार रूप में लिख दी हैं **'परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीड़नम्'** अर्थात् पुण्य का संचय करना हो तो परोपकार करना चाहिये और पाप का संग्रह चाहते हो तो दूसरों को दुःख दो। परोपकार पुण्य का साधन है और परपीड़ा से पाप होता है अर्थात् दूसरे को दुःख देने से स्वयं को भी दुःख मिला करता है।

मन को संतुलित रखकर योग धन को सुरक्षित रखने का तीसरा उपाय है—**पुण्यशील व्यक्तियों के प्रति मुदिता भाव का रखना।** पुण्यशील व्यक्ति पुण्य करता रहता है क्योंकि यह उसका स्वभाव होता है। दूसरों को सुख देना ही पुण्य है। पुण्यशील व्यक्ति की ख्याति सर्वत्र फैल जाती है। मनुष्य अज्ञानता से अपने स्वभाव वश पुण्यशील व्यक्ति की बुराई में जुट जाता है। ईर्ष्यालु व अहंकारी व्यक्ति पुण्यात्माओं में भी झूठे दोषों का आरोप करके उनकी सूची बना लेते हैं। जब भी पुण्यशाली व्यक्ति की अच्छाई की चर्चा होती है तो अहंकारी मनुष्य उसके बुराईयों की सूची पढ़ना शुरू कर देता है। दूसरे की प्रशंसा के प्रति असहिष्णुता बहुत ही बड़ा दोष है इससे भी हम पुण्य में पाप का संधान कर पाप ही एकत्रित कर लिया करते हैं। अहंकारी व असहिष्णु व्यक्ति बड़े–बड़े महापुरुषों महात्माओं की भी निन्दा करने लगता है। वह हमेशा अपनी प्रशंसा चाहता है दूसरों की नहीं। वस्तुतः कोई उदारचेता ही दूसरों की प्रशंसा को सुनकर खुश हुआ करता है। पुण्यशील सत्पुरुषों की निन्दा करने से हमारे पुण्य का खजाना क्षीण हो जाता है। विद्वानों के, तपस्वी ब्राह्मणों के श्रेष्ठ महात्माओं के प्रति द्वेष भाव रखने से निन्दा करने से, दुर्व्यवहार करने से पाप अपने आप मनुष्य के साथ लग जाता है। इसलिये पतंजलि जी का उपदेश है कि पुण्यशील व्यक्तियों के प्रति मुदिता—प्रसन्नता का भाव रखें। यही भाव पुष्टि को पाता हुआ कालान्तर में ईश्वर भक्ति एवं गुरु भक्ति के रूप में परिणित हो जाता है।

सूत्र में उपदिष्ट चौथी बात है—**पापात्माओं के प्रति उदासीन भाव— उपेक्षा भाव रखना।**

जो व्यक्ति पापात्मा है उसकी चर्चा ही नहीं करनी चाहिये। उसका चिन्तन नहीं करना चाहिये। उसके चिन्तन से, चर्चा से संग से हमारे अन्दर भी उसके संस्कार आ जाते हैं और उसके पापमय संस्कारों का भी प्रवेश होने लगता है। यह मनोविज्ञान की बात है। इसलिये शास्त्र और गुरुदेव हमेशा साधक को कुसंगी व्यक्ति से बचकर रहने की आज्ञा देते हैं। गुरुदेव हमेशा कहा करते थे—'संगदोष से बचो'। पतंजलि जी ने आदेश दिया है पापात्माओं के प्रति उपेक्षा भाव रखो।

पतंजलि जी के इन चार सूत्रों को देने का उद्देश्य यह है कि साधक पाप और पुण्य में लिप्त न हो। तथा वे अपनी अर्जित योग शक्ति को नष्ट न करें।

यम–नियमों के पालन में आने वाले विघ्नों के प्रसंग में भी पतंजलि देव जी ने एक और सूत्र दिया है– **वितर्क बाधने प्रतिपक्ष भावनम्।** अर्थात् वितर्कों को हटाने के लिये प्रतिपक्ष की भावना करनी चाहिये। **वितर्क का तात्पर्य है विरोधी भाव।** जैसे अहिंसा का वितर्क हिंसा है। यदि हिंसा के भाव मन में उत्पन्न हों जायें तो साधक को तुरन्त अहिंसा भाव का स्मरण करना चाहिये या गुरूदेव का स्मरण करना चाहिये। इसी प्रकार से असत्य आदि भावों के आने पर सत्य की भावना करने से यम–नियमों का ठीक पालन हो जाता है।

मनुष्य चिन्तनशील प्राणी है किन्तु वह अपनी इस शक्ति को व्यर्थ ही नष्ट कर देता है। योग का आधार भी चिन्तन ही है। शाश्वत तत्व का चिन्तन ही 'ध्यान' कहलाता है। मनुष्य अपनी इस प्रभु प्रदत्त शक्ति का सदुपयोग नहीं करता इसलिये वह कंगाल दरिद्र व दुःखी है। भगवान ने गीता में साधकों के लिये एक विशेष बात कही है–**न प्रहृष्येत प्रियं प्राप्य नोद्विजेत प्राप्य चाप्रियम्'** अर्थात् साधक को प्रिय बात हो जाने पर हर्षित भी नहीं होना चाहिये और न ही अप्रिय बात होने पर दुःखी होना चाहिये। समझने में बात सीधी होने पर भी पालन करने में बहुत कठिन है। हम लोग अपनी धारणाओं और निष्ठाओं के परिवर्तन में ही चिन्तन का नाश किया करते हैं। आज एक दल किसी दूसरे दल को जीजान से बुरा भला कहता है, तीक्ष्ण कटाक्ष करता है। गम्भीर आरोपों को लगाता है; किन्तु कुछ दिनों में परिस्थिति के परिवर्तन में स्वार्थवश वह यकायक एक दूसरे के मित्र बन जाते हैं। उन दलों में निष्ठा रखने वाले साधारण लोग बेचारे उल्लू से ठगे रह जाते हैं। उन्हें भी अपनी निष्ठा में तुरन्त संशोधन करना पड़ जाता है। इसी प्रकार की प्रवृत्ति या व्यवहार हम लोगों के दैनिक जीवन में परस्पर नित्य चलता रहता है। आप अपने किसी व्यक्ति या पक्ष के प्रति निष्ठा रखते हैं उस व्यक्ति के शत्रु के प्रति भी आप को वैरभाव हो जाता है। आप के मन में उसके प्रति द्वेष हो जाता है। किन्तु कालान्तर में आप के मित्र और शत्रु एक हो जाते हैं। फिर आप को लगता है कि इतने दिनों तक पाले हुए विद्वेष का क्या करें ? इस प्रकार से नित्य निष्ठाओं और विचारों में परिवर्तन वाले इस संसार में अपने चित्त को लगाने वाले व्यक्ति को अन्ततोगत्वा निराशा ही हाथ लगती है। अपने चिन्तन का सदुपयोग न होने से ग्लानि होने लगती है। इसलिये शास्त्रों में योग साधक को उदासीन भाव में स्थित रहने की बात कही गई है। लोगों के पारस्परिक राग–द्वेष से न जुड़कर साधक को अपने को दूर रखना चाहिये ताकि उसके चिन्तन का सदुपयोग हो सके। **'सर्वमेव दुःखम विवेकिनः'** इस सूत्र को साधक को सदा ध्यान में रखना चाहिये। असार संसार में वृत्ति लगाने से परिणाम में दुःख ही हाथ लगता है। यही इस सूत्र का सारगर्भित अर्थ है।

उच्च मानसिक स्थिति में योग धारा बहती है। चित्त में जब विक्षेप उत्पन्न हो जाता है तो चिन्तन धारा के बिगड़ने से हम योग से हट जाते हैं। मनुष्य चाहे कि मुझे सांसारिक आमोद–प्रमोद युक्त वातावरण से वंचित भी न रहना पड़े अपने उच्छृंखल चिन्तन को भी छोड़ना न पड़े और योग मार्ग में भी उन्नति मिल जाये तो यह संभव नहीं है। वस्तुतः मनुष्य अपने अज्ञान निर्मित कल्पित संसार से बिगाड़ना नहीं चाहता त्याग, वैराग्य, संयम, इन्द्रिय दमन की बातों से वह कतराने लगता है और योग मार्ग में आने का साहस नहीं जुटा पाता। किन्तु यदि मनुष्य को सत्य की पकड़ चाहिये और योग मार्ग का पथिक बनने की जिज्ञासा है तो उसे अपनी जीवन शैली में परिवर्तन करना ही पड़ेगा। उच्छृंखल व स्वच्छन्द आचरण को त्याग कर गुरुओं के अनुशासन में बँधकर संयम एवं तप के मार्ग पर आना पड़ेगा तभी वह सत्य एवं योग के मार्ग का सच्चा पथिक बन सकता है। ※ ※ ※

नादानुसंधान और सुरतियोग साधना

प्रोफेसर आचार्य चन्द्रहास शर्मा, दिल्ली

गतांक में नाद साधना के बाह्य संगीतमय साधना तथा आन्तरिक अनहदनाद साधना के विषय में स्फुट विचार व्यक्त किये गये थे। नाद साधना मनोलय का सहज और त्वरित फलदायी साधन है वह चाहे बाह्य हो, चाहे आन्तरिक। नाद तरंगरूप में सृष्टि के कण–कण में व्याप्त है। किन्तु मूढ़, क्षिप्त और विक्षिप्त अवस्थाओं में उसकी प्रतीति नहीं हो पाती। जब मन विक्षिप्तावस्था से एकाग्रावस्था में संचरण करता है तो नाद या सुरति की साधना सम्भव होती है। इस नाद का उद्गम तत्ववेत्ता मनीषियों ने कुण्डीलनी अथवा चिदाकाश से माना है। चिदाकाश में चिद् शक्ति के आघात् से नाद अभिव्यक्त होता है। ज्यों–ज्यों हमारा मन अन्तर्मुख होता जाता है, त्यों–त्यों अव्यक्त नाद श्रवणगोचर होता जाता है। नाद का उद्गम और लय स्थान चिदाकाश माना गया है। बिन्दु को ही चिदाकाश माना गया है। जब मन अश्विनी मुद्रा, शक्ति चालिनी–मुद्रा षण्मुखी मुद्रा तथा योनिमुद्रा के सतताभ्यास से अन्तर्मुख और एकाग्र होने लगता है तो बिन्दु में मन का संस्पर्श होने पर मन स्थिर हो जाता है। उस अवस्था में वासना का नाश हो जाता है। मन का रूपान्तर प्रज्ञा के रूप में हो जाता है। दादू, पलटू, कबीर, सुन्दर दास, रज्जब, चरणदास तथा भीखा आदि सन्त साधकों ने इस नाद साधना को **सुरति–योग** के नाम से कहा है। **'सुरति समानी निरति में, निरति सुरति के माँहि** ? यह सन्त योगी साधकों की साधना पद्धति रही है। यह 'सुरति' तंत्रागम के स्रोत शब्द का अपभ्रंश रूप है। शब्द के मूल स्रोत से आने वाले नाद का श्रवण 'सुरति साधना' के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। माया के राज्य से उत्पन्न होने वाला शब्द अशुद्ध होने से विकल्पात्मक है। उसको सुनने से भेद ज्ञान और बन्धन होता है। जब विशुद्ध नादमय विकल्पहीन शब्द का आश्रय ग्रहण किया जाता है, तब वह जाग्रत मंत्र बन जाता है। यह अशब्दावस्था तथा चैतन्य की उन्मेषावस्था का साक्षात्कार करना है।

शब्द शक्ति (निरति) के द्वारा मन बहिर्मुख होकर आत्मा से विमुख होकर विषयाकार हो गया है। नाद रूपी शुद्ध शब्द शक्ति से वही मन अन्तर्मुखी होकर आत्माकार बन जाता है। वायु की वक्रगति मन को चंचल बनाती है। जब नादानुसंधान से उसकी गति सरल हो जाती है तो वह शब्द से ज्योति और ज्योति से रूप की स्थिति तक मन को ले जाकर पूर्ण जाग्रत और चैतन्य बना देती है। शब्द ब्रह्म में निमग्न होने पर सविकल्पक समाधि और ब्रह्म ज्योति में निमज्जित होने पर निर्विकल्पक समाधि होती है। उसी स्थिति में चिन्मय रूप और रूपातीत निरंजन का साम्य होता है।

नाद की अभिव्यक्ति के योगाचार्यों ने अनेकों उपायों का उल्लेख किया है। संक्षेप में यहाँ कुछ उपायों का वर्णन प्रस्तुत है–

१. **प्राणायाम द्वारा नाद अभिव्यक्ति**–सर्वप्रथम सर्वविघ्नहर आदिदेव श्री गणेश का पूजन कर अपने सद्गुरुदेव या इष्टदेव को मानस प्रणाम कर पूर्व मुख या उत्तर मुख स्वस्तिक, पद्मासन या सिद्धासन में बैठकर समकाय शिरोग्रीव होकर नासिका के अग्रभाग या नेत्रों के मध्य अथवा भ्रूमध्य में चन्द्रबिम्ब से अमृत निस्सरित हो रहा है ऐसी धारणा करता हुआ, वाम नासिका (इड़ा नाड़ी) से बारह मात्रा में शनैःशनैः वायु को पूरक कर उदर में कुम्भक कर 'र' बीजमंत्र का ध्यान करते हुए ज्वाला युक्त अग्निमण्डल की धारणा करता हुआ दायें (पिंगला

नाड़ी) से वायु का रेचन कर दे। फिर उसी क्रम से पिंगला से पूरक कर इड़ा से रेचन करे। इस प्रकार प्रतिदिन छः बार छः मास पर्यन्त अभ्यास करने से नाड़ी शुद्धि हो जायेगी। नाड़ी शुद्धि होने पर शरीर में हल्कापन, तेजोमय शरीर, जठराग्नि दीप्ति तथा नादाभिव्यक्ति हो जायेगी। जैसे शेर, हाथी और व्याघ्र युक्तिपूर्वक धीरे–धीरे वश में कर लिये जाते हैं, उसी प्रकार शनैः शनैः अभ्यास से वायु को सुषुम्ना नाड़ी में ले जाने का अभ्यास करना चाहिये। अन्यथा हिंसक पशुओं के साथ जोर–जबरदस्ती करने पर जैसे वे प्राणों को हर सकते हैं, उसी प्रकार बलात् प्राणायाम करने से लाभ के स्थान पर हानि की अधिक सम्भावना है। शास्त्र का आदेश है–

विधिवत् प्राण संयामैर्नाड़ीचक्रे विशोधिते।
सुषुम्ना वदन भित्वा सुखाद्विशति मारुतः।।
मारुते मध्य संचारे मनः स्थैर्यं प्रजायते।
यो मनः सुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी।। शाण्डिल्योपनिषद १/१०

अर्थात् वायु के मध्य नाड़ी में संचार होने पर नाड़ी चक्रों की शुद्धि से मनोन्मनी दशा आ जाती है। प्राणायाम काल में घी, दूध और मधुर पदार्थों का यथेष्ट सेवन करना हितकर है, अन्यथा खुश्की होकर वातरोग पैदा हो जायेंगे।

२. षण्मुखी मुद्राभ्यास से नाद श्रवण–सिद्धासन पर बैठकर आँख, कान, नाक, मुख को दोनों हाथों की अंगुलियों से बन्दकर रात्रि के द्वितीय पहर में अथवा किसी नदी तट पर एकान्त में दिन के समय मूलबन्ध, उड्डियानबन्ध और जलन्धर बन्ध लगाकर मुख मार्ग से वायु को पूरित कर हृदय और सिर प्रदेश में वायु का दबाव देकर मूर्धा में वायु को रोककर बैठे–

'गगनं पवने प्राप्ते ध्वनिरुत्पद्यते महान्।
षण्टादीनां प्रवाद्यानां नादसिद्धिरुदीरिता।।' योगचूड़ामणि उप० १/११५

जब हृदयाकाश और चित्ताकाश तथा चिदाकाश में वायु का संयम होने लगेगा तो अनाहद नाद घण्टा, भेरी, मृदंग, बंशी, शंख, वीणा आदि के स्वर में प्रकट होने लगेगा। जिसके श्रवण होते ही मन आनन्द में लीन हो जायेगा। प्राणायाम की सफलता तीनों बन्धों के अभ्यास पर निर्भर है। जब वायु का पूरक किया जाय तब जालन्धर बन्ध लगाना चाहिये। कुम्भक के पश्चात् और रेचक के पहले उड्डियान बन्ध लगना चाहिये तथा पूरे समय मूल बन्ध लगाकर अपान वायु को प्राणवायु के साथ मिलाने का यत्न करना चाहिये। इस प्रकार से नीचे से गुदा का आकुंचन और ऊपर से कण्ठ का संकोचन करने पर वायु ब्रह्म नाड़ी के मध्य में गमन करने लगती है।

३. सद्गुरुकृपा से–सद्गुरु की कृपा से मंत्रजप द्वारा अथवा कुण्डलिनी के उत्थित होने पर बिन्दुपीठ को फोड़कर नाद स्वतः स्फुरित होने लगता है। ऊँकार का दीर्घ उच्चारण करने से भी किन्हीं–किन्हीं साधकों में नादाभिव्यक्ति बिना अन्य किसी साधना के स्वतः प्रकट होता हुआ देखा गया है। यह परमगुरु की शाम्भवी दीक्षा में विशेष कृपा से सम्भव होता है। शिष्य में गुरुभक्ति लवालव भरी हो और परम गुरु भी शिष्य को जनकल्याण का माध्यम बनाने हेतु उसे कृतार्थ करने का संकल्प कर ले तो सुरति योग अनायास स्वप्न में या ध्यान करते समय अथवा चलते–चलते स्वतः प्रकट होते हुए देखा गया है। यह नाद ब्रह्मस्थान में शंखिनी नाड़ी से अभिव्यक्त होता

है। यह मुक्तिदायक माना जाता है। इस नाद में हंसमंत्र का स्वतः अजपाजाप होता प्रतीत होता है। योगशिखोपनिषद् में गुरुभक्ति युक्त उस साधक को ही इस प्रकार की कृपा का अधिकारी बताया गया है—

'यस्य देवे पराभक्तिः यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिताह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

अर्थात् जो अपने इष्टदेव में रागानुगाभक्ति रखता है। अपने गुरुदेव को इष्ट से भी अधिक मानता है। 'जय—जय—जय हनुमान गोसाईं। कृपा करहुँ गुरुदेव की नाईं।' अर्थात् गुरुदेव की कृपा इष्टकृपा से भी बढ़कर मानने वाला साधक इस प्रकार की सिद्धि का अधिकारी है। उसके लिए—

नास्ति नादात्परो मंत्रो, न देवः स्वात्मनः परः।
नानुसंधेः परा पूजा न हि तृप्तेः परं सुखम्॥
गोपनीयं प्रयत्नेम सर्वदा सिद्धिमिच्छता॥

अर्थात् ऐसे भक्त के लिए नादाभिव्यक्ति से बढ़कर मन को एकाग्र कर निरुद्धावस्था प्राप्त कराने वाला कोई अन्य मंत्र नहीं है। उसकी आत्मा से बढ़कर उसके लिए किसी और आलम्बन का आश्रय अपेक्षित नहीं है। वह नादानुसंधान से ही आत्मतृप्त हो जाता है। उसका प्रयत्नपूर्वक अपनी स्थिति को छिपाकर रखने में ही हित है। नादतत्व से ही वेदशास्त्र पुराण, विविध भाषा, राग—रागिनियाँ सब बने हैं। नाद तत्व की अनुभूति होने पर साधक की वाणी में सरस्वती निवास करती है। वह सत्य वक्ता बन जाता है। उसे वचनसिद्धि प्राप्त हो जाती है।

४. **शाम्भवी मुद्रा की सिद्धि में नाद सिद्धि**—श्री सद्गुरु की विशेष कृपा के फलस्वरूप शाम्भवी मुद्रा सिद्ध होने पर भ्रूमध्य दृष्टि होने पर चिदाकाश में नाद श्रवण होता है। शास्त्र का सिद्धान्त है—

नादरूपं ध्रुवोर्मध्ये मनसो मण्डलं विदुः।
शाम्भव स्थानमेतत्ते वर्णितं पद्म सम्भव॥ योग शिखो० ५/१५

मन का स्थान भ्रूमध्य में नाद रूप में है। यहीं सदा शिव का स्थान है। शाम्भवी मुद्रा से ऊर्ध्वाकाश का मार्ग खुल जाता है। योगसाधक तृतीय नेत्र से अलौकिक दृश्य देख सकता है।

योगाचार्यों ने नादानुसंधान को सभी प्रकार की साधना पद्धतियों में लययोग की साधना या सुरति साधना को अत्यधिक महत्व दिया है। वैसे तो मन का वायु से भी अधिक चंचल होने के कारण निश्चल होना कठिन है। किन्तु वायुजय और नाद श्रवण से वह शीघ्र निश्चेष्ट, निर्विकार, संकल्पविकल्प—रहित परमशक्ति का पुन्ज बन जाता है। वराहोपनिषद् में कहा गया है—

'इन्द्रियाणां मनोनाथो मनोनाथस्तु मारुतः।
मारुतस्य लयो नाथः तन्नाथं लयमाश्रय॥
सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा।
नाद एवानुसंधेयो योग साम्राज्यमिच्छता। ३/८०, ८३

अर्थात् इन्द्रियों का स्वामी मन और मन का स्वामी वायु और वायु का स्वामी नाद और नाद का अधिष्ठान ब्रह्म है। अतः योग में पूर्णता प्राप्त करने की इच्छा करने वाले साधक को सभी चिन्तायें छोड़कर सावधान होकर नादानुसंधान करना चाहिये। नाद का शब्दार्थ ही है कि जहाँ आत्मचैतन्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता उस परमात्मरूप नाद के साथ अद्वैत स्थिति प्राप्त करना। वेद की ऋचायें अन्तरिक्ष से द्युलोक तक फैली हुई हैं। उनको

सुनने के लिए दिव्यश्रोत्र होना आवश्यक है। इस श्रवण दिव्यता के लिए हमारे ऋषियों ने **बहिर्वृत्तिजन्य** तथा **अन्तर्वृत्तिजन्य** दो साधनों का विधान किया है। अन्तर्मुखी साधना का संक्षिप्त विवरण दिया जा चुका है। योगदर्शन में उसके लिए सूत्र दिया गया है—

'श्रोत्राकाशयो: सम्बन्ध संयमाद् दिव्यं श्रोत्रम्।' अर्थात् नाद—साधना से मन और श्रोत्र एकाग्र हो जाते हैं। श्रोत्र के सूक्ष्मातिसूक्ष्म आवरण नष्ट हो जाते है, जिससे एकाग्रता और संयम से दिव्य श्रोत्र की उत्पत्ति होती है। उसी श्रोत्र से पराविद्या का ज्ञान होता है। वह ज्ञान ही मुक्तिदाता हुआ करता है। **'सदानादानुसंधानात् संक्षीणा वासना भवेत्'**। नादानुसंधान करने से इन्द्रियों की समस्त वासनायें नष्ट हो जाती हैं। चित्त वृत्ति प्रवाह को अनाहत शब्द में लय कर देने पर चित्त वृत्ति सुख की डोरी के सहारे ऊपर चढ़ती हुई बीच की भूमिकाओं को सरलता से पार करती हुई असम्प्रज्ञात समाधि में सहज लीन हो जाती है। कबीर, नानक, बुल्लासाहब, हाथरस के तुलसी साहब तथा राधास्वामी सम्प्रदाय के सन्तों के 'सबद' और साखियों में सुरत योग का विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है।

इस ब्रह्माण्ड में कुल ३६ मण्डल माने गये है। इनका अलग—अलग वर्ण, रूप, शब्द और अधिकार है। इन्हीं मण्डलों के आधार पर ही वीणा में ३६ तारों का प्रयोग किया गया। इन्हीं के आधार पर छत्तीस राग—रागिनियों का आविष्कार हुआ। इन मण्डलों में कुछ मण्डल अव्यक्त है। केवल दस मण्डलों के ही स्वर व्यक्त रूप से सुनाई पड़ते हैं। इन मण्डलों की अर्द्धमात्रायें और बीजाक्षर अलग—अलग हैं। उन बीजाक्षरों में जो शब्द सुनायी पड़ता है वह केवल दस प्रकार का अनहद ही कर्णगोचर होता है। शेष २६ उच्च अवस्था में पहुँचे हुए योगी ही सुन सकते हैं। क्योंकि दस मण्डल अपरा विद्या के क्षेत्र में हैं और शेष पराविद्या के क्षेत्र में माने जाते हैं। शिव पुराण (२६ वें अध्याय) में अनहदनाद को कालजयी और मोक्षदाता कहा गया है। जो व्यक्ति प्रतिदिन एक घण्टे इस नाद का अभ्यास करता है, वह मृत्यु को जीत सकता है। उसमें सर्वज्ञा, नाना रूप धारण शक्ति, जितेन्द्रियत्व आदि सिद्धियाँ आ जाती हैं। इन मण्डलों में निम्नलिखित ध्वनियाँ सुनाई पड़ती है—

मण्डल	मण्डलस्थ ध्वनि
१. संहार देव का लोक	पायल की झंकार सी
२. पालनकर्ता का लोक	समुद्र घोष सी ध्वनि
३. सृष्टि कर्ता का लोक	मृदंग ध्वनि
४. सहस्र दल कमल मण्डल	शंखनाद जैसी ध्वनि
५. आनन्द मण्डल	तुरही जैसी ध्वनि
६. चिदानन्द मण्डल	वंशी ध्वनि
७. सच्चिदानन्द मण्डल	वीन जैसी ध्वनि
८. अखण्ड अर्द्धमात्रा मण्डल	सिंह गर्जन जैसी ध्वनि
९. अगम मण्डल	नफीरी जैसी ध्वनि
१०. अलख मण्डल	बुलबुल की आवाज जैसी ध्वनि

उमा संहिता में दस प्रकार के नादों में नौ नाद शब्द ब्रह्म से प्रकट बताये गये हैं। एक नाद अव्यक्त परब्रह्म का नाद है। ये नौ इस प्रकार है—

१. घोष—इससे आत्मतत्व शुद्ध होकर दैहिक—दैविक, भौतिक आधि—व्याधियाँ दूर हो जाती है।

२. कांस्यनाद—प्राणियों की गति निश्चल कर, विष, भूत, प्रेत और ग्रहों के दोषों को दूर कर देता है।

३. श्रृंगनाद—यह शत्रु के उच्चारण और मारण में प्रयोग होता है।

४. घण्टानाद—यह शिवनाद है। इससे सभी अभीष्ट मनोरथ पूरे होते हैं। देव, दानव, यक्ष, राक्षस, मनुष्य, किन्नर सभी को आकृष्ट करने वाला है।

५. वीणानाद—दूर दृष्टि प्राप्त होती है।

६. वंशीनाद—इससे तत्व ज्ञान प्राप्त होता है।

७. दुन्दुभिनाद—इससे जरामरण से छुटकारा मिलता है।

८. शंखनाद—इससे यथेष्ट रूप धारण सामर्थ्य आती है।

९. मेघ गर्जन नाद से—साधक शिव सायुज्य प्राप्त करता है। मृत्यु के समय योगाभ्यासी साधक जिस मण्डल के नाद में मन एकाग्र कर शरीर छोड़ता है, उसी मण्डल में उसकी आत्मा का गमन हो जाता है। नाद मण्डल यमलोक से ऊपर माना गया है। अतः नादानुसंधान का अभ्यासी यमलोक गामी नहीं होता।

संगीत के माध्यम से नाद साधना की सिद्धि का उपाय

नादानुसंधान की आन्तरिक साधना की तरह संगीत के माध्यम से बाह्य साधना भी अन्ततोगत्वा नाद ब्रह्म का साक्षात्कार कराने में सहायक है। इसीलिए नरहरि मोहन, श्री विट्ठलदास, स्वामी हरिदास, सूरदास तथा अष्टछाप के कवि साधक राग रागिनियों के माध्यम से उस परब्रह्म का साक्षात्कार करने में समर्थ हो सके।

संगीत क्षेत्र के सिद्ध साधकों का अनुभव है कि यदि प्रतिदिन नियम से प्रातः तीन बजे से पाँच बजे तक भगवती त्रिपुर सुन्दरी का ध्यान करके संगीत के अठारह अलंकारों का अभ्यास किया जाय तो राग—रागिनी सिद्ध हो जाती है। राग से रागान्तर अवस्था की प्रतिपादक 'गति' कहलाती है। 'गति' को 'गमक' (प्राप्त कराने वाला) कराने वाला गीत होता है। 'वादि' 'प्रतिवादि' और 'अनुवादि' रूप 'गुणों' को 'स्वर' कहा जाता है। स्वर तीन प्रकार के होते हैं—'षाडव' 'ओडव' और 'सम्पूर्ण'। तीन ग्राम हैं—ऋग् ग्राम, यजुग्राम, सामग्राम। इन्हीं को 'षड्ज', 'मध्यम', 'गान्धार' भी कहा जाता है। इसकी मर्यादा पद्धति (नियमन) भूः भुवः स्वः है। राग—रागिनी के इस साम सिद्धान्त के अनुसार इनमें सिद्धि प्राप्ति करने वाले संगीतज्ञ को अलंकारों की साधना करनी चाहिये। इसी साधना के प्रभाव से संगीताचार्य वाद्य, नृत्य और गायन में दक्षता, निपुणता और अद्वितीय क्षमता प्राप्त कर ऐश्वर्य, यश और मूर्धन्यता अर्जित कर सके। अभ्यास प्रारम्भ करने से पूर्व वीणा या सितार वाद्य पर पन्द्रह मिनट दुर्गा सप्तशती और सौन्दर्य लहरी के इन मंत्रों को भाव—विभोर होकर प्रार्थना करते हुए भगवती सरस्वती का ध्यान करना चाहिये।

प्रार्थना मंत्र— शब्दात्मिका सुविमलर्ग्यजुषां निधानम्,
उद्गीथरम्यपदमाठवतां च साम्नाम्।
देवी त्रयी भगवती भव भावनाय,
वार्ता च सर्व जगतां परमार्ति हन्त्री।। दुर्गा सप्त.

गले रेखास्तिस्रो गति गमक गीतैक निपुणे,
विवाहव्यानद्ध प्रगुणगुण संख्या प्रतिभुवः।
विराजन्ते नानाविध मधुररागाकर भुवाम्,
त्रयाणां ग्रामाणाम् स्थिति नियम सीमान इव ते (सौन्दर्य लहर)

इन प्रार्थना मंत्रों के बाद राग, रागान्तर, गति और अलंकारों का एक वर्ष तक नित्य अभ्यास करे। राग से रागान्तर अवस्था गति है और गति की अवस्था 'अलंकार' कहलाती है।

१. आसन्नः— सा, रि, ग, म, प, धनि, सा।
२. परावृत्तः— सनि, धप, मग, रिसा, सारि, सारि।
३. निवृत्त— गसा, रिगम, सारिगम, पसारिगम, पधासारिगम पधनिसारिगम पधनिसा।
४. परिवर्तकः— सानि, सानि, धमा, निध, पसानिध, पमा,
सानि, धपम, धपध, सनधिपगरि, सनिधप, गरिगरिसा,
५. आक्षिप्तः— निसा, धनि, सामपधनि, सामपधनिसा, गमकधनि, सारिगमक
६. सम्प्रदान— निसा, सारि, गमक, धनिसा।
७. आवाहः— रिसा, गरि, गमक, धसनी।
८. उपलब्धः— सासा, नीनी, नीधधध, पपप, गगग, रीरीरी सा।
९. क्रामकः— सारी, रीगग, मम, पप, धधध, निनि सा।
१०. बहुमानः— सा निनि, धध, पप, मम, गग, रीरी, सा।
११. चातकः— साग, सारिगम, मग, पध, पनिधा, सानि सा।
१२. मालिनः— सानि, साधनि, पधम, पगम गरी सरी सा।
१३. हुंकारः— सारि, गम, मग, गरी, सासानिधपप निसा।
१४. द्योतः— सासा रिनि, धगम, पपमग धप धारिनिसा।
१५. विद्योतः— साम पसा, सारि गधनि, सनिगरी, सासापमसा।
१६. सुवाहुः— सारि, सासा, गसा, सामनिसा, सापधसा।
१७. प्रौढ़ः— मम गधरिनि, सासासासा निरि धग मम।
१८. सम्मुखः— सा गपनि सासारीध सा सा परिध, मनि, मसा सरि गरीसा गम पम गप सरि
मम मप धनिसा।

***

किमस्ति योगः

(त्रयोविंशतिः शृंखला)

रचनाकार : **द्वारिका प्रसाद शर्मा**, लखनऊ

प्रस्तुत २३ वीं शृंखला में महर्षि पतंजलि के पातञ्जल योग दर्शन के अन्तर्गत साधन पाद के निम्नांकित सूत्रों का आधार ले पूर्व की भाँति श्लोकानुबद्ध रचना के साथ–साथ हिन्दी में भाषानुवाद प्रस्तुतीकरण का प्रयास है।

–शौचात्स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः।

–सत्वशुद्धि सौमनस्यैकाग्रेन्द्रियजयात्म दर्शन योग्यत्वानि च।

–सन्तोषादनुत्तम सुखलाभः।

–कायेन्द्रिय सिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।

–स्वाध्यायादिष्ट देवता सम्प्रयोगः।

–समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।

–तत्र स्थिर सुख मासनम्।

–प्रयत्न शैथिल्यानन्त समापत्तिभ्याम्।

मंगलाचरण के द्वारा इस लेख का श्रीगणेश करेंगे।

(१) **श्री गुरोश्चरणावेव, ध्येयौ स्यातां सदा मम।**
ययोः प्रभावः पश्येऽहं, श्री गुरूः शरणं मम।।

श्री गुरुदेव के चरणद्वय ही सर्वदा मेरे ध्येय बने रहें। इन गुरूचरणों का प्रभाव मैं देखा करता हूँ। अतः श्री गुरूदेव ही मेरी शरण है।

(२) **चरण–शरणं गत्वा, नत्वा मूर्ध्ना पुनः पुनः।**
प्रारभे योगसूत्राणि, क्रमात्पूर्वागतानि च।।

श्री गुरुदेव के चरणों की शरण ग्रहण कर तथा बारम्बार उन चरणों में शीश नवाते हुए, मैं पूर्व के क्रम से आये योग सूत्रों का प्रारम्भ कर रहा हूँ।

(३) **अथोऽकिंतानि सूत्राणि, योगदर्शन शास्वतः।**
समादत्य यथापूर्वं, पूर्वरीत्या वदाम्यहम्।।

योगदर्शन शास्त्र से निम्नांकित सूत्रों को लेकर यथा पूर्व रीति से मैं कथन कर रहा हूँ–

–सूत्रं तदर्थं सहितम्–**शौचात्स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः।**

(४) **शुचितां तु समाधाय, निजांगेः सघृणो नरः।**
परैरप्यसंसर्गत्वं, स्वान्ते संजायते तदा।।

शौच से अपने अंगों से घृणा, दूसरों से संसर्ग न करने की इच्छा होती है।

(५) अंगानि स्वशरीरस्य, बहिरन्तर्मलानि हि।
अपवित्राण्यशुद्धानि, ज्ञानमेतद्यदा भवेत्॥

शरीर के अवयव बाहर–भीतर मलों से दूषित हैं, अपवित्र हैं, शुद्ध नहीं हैं, ऐसा जब ज्ञान हो जाता है,

(६) आसक्तिः स्वशरीराद वै, नाशमेति शनैश्शनैः।
संसर्गो वा परैश्चापि, नैव कामयते नरः॥

तब अपने शरीर में आसक्ति नहीं रहती। इस तरह दूसरे सांसारिक मनुष्यों के साथ संसर्ग करने की इच्छा नहीं रहती।

(७) जिघृक्षते संकुचते, वपुरन्य वयुर्युतः।
भवत्यैकान्तिक प्रियः, बहिरन्तः शुचिताफलम्॥

दूसरे से अपना शरीर मिलाने में संकोच व घृणा करता है और एकान्त प्रिय हो जाता है। यह बाह्य शौच का फल है।

ननु आन्तर शौच फल विवक्षायां ग्रन्थाति सूत्रमग्रिमं भगवान् पतंजलिः।

अब भीतर की शुद्धि के फल को बताने के लिये भगवान पतंजलि अग्रिम सूत्र का ग्रथन कर रहे हैं।

–सूत्रं तदर्थ सहितञ्च–सत्वशुद्धि सौमनस्यै काग्रेन्द्रिय जयत्वमात्म दर्शन योग्यत्वानि च।

(८) चित्तस्य शुद्धिर्मनसस्तथा च, एकाग्रतेन्द्रिय निग्रहता वै।
निजात्मनो दर्शन योग्यता च, आयान्ति पंचान्तः शौचकारणात्॥

चित्त की शुद्धि, मन की स्वच्छता, एकाग्रता, इन्द्रियों का जीतना, आत्म साक्षात्कार की योग्यता, ये पाँचों आभ्यन्तर शौच की सिद्धि से प्राप्त होते हैं।

(९) स्थिति र्दृढाभ्यन्तर शुद्धितो यदा, करुणादिभावैश्च तथा तपोभिः।
अभ्यास वैराग्य द्वयोरूपायोः, तदा जायते मानस निर्मलत्वम्॥

आभ्यन्तर शौच की दृढ़ स्थिति मैत्री, करुणादि भावों से या जप–तप से अथवा अभ्यास–वैराग्य से जब हो जाती है तब तमोगुण, रजोगुण के आवरण धुल जाने से चित्त निर्मल हो जाता है।

(१०) मनः प्रसाद ऐकाग्र्यम्, ततो जयतेन्द्रियेषु वै।
विजितेऽपीन्द्रियेष्वेव, विवेकख्यातिता भवेत्॥

ऐसा होने पर तब मन प्रसन्न होता है, उसके बाद चित्त एकाग्र होता है। चित्त की एकाग्रता से योगी इन्द्रियों को जीतता है। इन्द्रियों के जीतने पर चित्त में विवेकख्याति रूपी आत्म दर्शन की योग्यता प्राप्त हो जाती है।

(११) एवं योगी भवेच्छक्तः, आत्मसाक्षी च जायते।
अन्तः शौच फलं त्वेतत्, गदितं श्री महर्षिणा।।

इस प्रकार योगी समर्थ होकर आत्मसाक्षित्व को प्राप्त हो जाया करता है। इसी को आभ्यन्तर शुचि कहते हैं जिसे महर्षि श्री पतंजलि महाराज ने कहा है।

बाह्याभ्यन्तर शौचानन्तरं ननु को लाभः सन्तोषादवाप्यते, निरुप्यते भगवता महर्षिणा तदेवाग्रिमे सूत्रे।

बाह्याभ्यन्तर शुचिता के पश्चात् सन्तोष से क्या लाभ होता है, उसे भगवान् पतंजलि देव जी अगले सूत्र में निरूपित कर रहे हैं।

—सूत्रं तदर्थ सहितम्—सन्तोषादनुत्तमलाभः।

(१२) नान्यत्तत्र सुखं किंचित्, सन्तोषं यदि राजते।
मुनिना तन्निगदितं, सन्तोषं परमं सुखम्।।

सन्तोष से, जिससे उत्तम दूसरा सुख कोई नहीं है, ऐसे सर्वोत्तम सुख का लाभ होता है। सन्तोष में जब पूर्ण अवस्था हो जाती है अर्थात् सत्व के प्रकाश में चित्त की प्रसन्नता होती है और तृष्णा का नाश हो जाता है तब महान् सुख की प्राप्ति होती है—**सन्तोषं परमं सुखम्**—अर्थात् सन्तोष महान् सुख है।

—सूत्रं तदर्थं सहितम्—कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।

(१३) तपसः सुप्रभावेण, अशुद्धिर्नश्यति ध्रुवम्।
वपुष इन्द्रियाणां च, सिद्धिः संजायत इति।।

तप के प्रभाव से जब अशुद्धि नष्ट हो जाती है तब शरीर तथा इन्द्रियों की सिद्ध हो जाती है।

—सूत्रं तदर्थं सहितञ्च—स्वाध्यायादिष्ट देवता सम्प्रयोगः।

(१४) स्वाध्यायात् वेद शास्त्राणां, प्रणवस्य जपात्तथा।
सिद्धादीनां ऋषीणां च, योगी दर्शनमाप्यते।।

वेदशास्त्रों के स्वाध्याय से तथा प्रणव के जप से सिद्धों तथा ऋषियों के दर्शन योगी को प्राप्त हुआ करते है।

—सूत्रं तदर्थसहितञ्च—तत्र स्थिर सुखमासनम्।

(१५) स्थिरं भूत्वा सुखाच्चैव, आस्यते येन आसनम्।
आसनास्तत्र बहवः, यस्मै यद् रोचते हि तत्।।

शरीर को स्थिर करके तथा सुख से जो आसन किया जाता है और जिसे जो आसन रुचिकर हो वह किया जाना अभीष्ट है। आसन तो वैसे बहुत है।

—सूत्रं तदर्थ सहितत्व—**समाधि सिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्।**

(१६) **चित्तं समाहितं चापि, अर्पणादीश्वरं प्रति।**
मनसा वपुषा वाचा, भवतीति न संशयः।।

मन, शरीर और वाणी से ईश्वर के प्रति समर्पण भाव बुद्धि से चित्त समाहित हो जाया करता है, इसमें कोई संशय नहीं है।

—सूत्रं तदर्थसहितत्व—**प्रयत्नशैथिल्यानन्त** समापत्तिभ्याम्।

(१७) **स्वप्रयत्ने शिथिलिते, ईशे चित्तं समाहिते।**
आसनस्य भवेत् सिद्धिः, सत्यमुक्तं **महर्षिणा।।**

प्रयत्न की शिथिलता और परमात्मा में मन लगाने से आसन–सिद्धि होती है।

(१८) **याश्चेष्टास्तु शरीरस्य, जयत्वं वाथ कम्पनम्।**
तैरेवोपरतिः ख्याता, शैथिल्यं तत्प्रयत्नस्य।।

शरीर की स्वाभाविक चेष्टा (अंग में जयत्व) अर्थात् शरीर का डाँवाडोल होना, कांपना, उससे उपरत होना प्रयत्न की शिथिलता है अर्थात्, शरीर को सीधा स्थिर करके सुख पूर्वक साधन की दृढ़ता से शरीर सम्बन्धी सब चेष्टाओं को छोड़कर अनन्त परमेश्वर में तद्रूपता हो जाने से, आसन सिद्ध होता है। अर्थात, फिर साधक अपने को भूला हुआ जैसा समझकर बहुत समय तक सुखपूर्वक बैठ सकता है।

(१९) **परिच्छिन्न पदार्थेषु, भ्रमन्ते चित्तवृत्तयः।**
यथा काशेऽपरिच्छिन्ने, चेच्चेतो रमणं भवेत्।।

चित्त की वृत्तियां अनेक परिच्छिन्न पदार्थों की ओर हर समय घूमा करती है, उनकी परिच्छिन्नता में चित्त अतएव अस्थिर रहा करता है। अपरिच्छिन्न आकाशादि में जो अनन्तता है उसमें चित्त को लगाकर करने से चित्त निर्विषय होकर स्थिर हो जाता है।

(२०) **चित्तं निर्विषयं भूत्वा, स्वस्मिन् विस्मरणे सति।**
आसनस्य भवेत् सिद्धिः, समापत्तिरानन्तके।

सूत्र में 'आनन्त समापत्ति' से यही तात्पर्य है जैसा कि ऊपर के श्लोक के भाषानुवाद में स्पष्ट किया गया है। तब ही आसन सिद्ध होता है।

(२१) **विरमामि नमस्कृत्य,** चरणौ **युगलौ गुरोः।**
याभ्यां प्रसादतश्चाहं, प्रसादेन विभूषितः।।

श्री गुरुदेव के दोनों चरणों को नमस्कार करता हुआ मैं यहीं विराम दे रहा हूँ। जिन चरणों के प्रसाद से मैं द्वारका प्रसाद स्वयं प्रसाद से विभूषित हो रहा हूँ।

सर्व समर्थ गुरुदेव, सद्शिष्य एवं सहीमार्ग

प्रेषक:—केशवदेव उपाध्याय, वाराणसी

आज के इस घोर कलिकाल में प्राणी मात्र भ्रमित सा ही है। अत: समयोचित सही मार्ग क्या है, इसे समझने हेतु कुछ उदाहरण निम्नवत् हैं—

"आप को ईश्वर का दर्शन होता है ?" तार्किक के रूप में चर्चित और स्वयं को नास्तिक समझने वाला नरेन्द्र पूछ रहा था।

"हाँ, होता है।" बहुत ही ठोस ठहरा हुआ, शान्त एवं निर्विवाद उत्तर मिला, जिसमें न तो कुटिलता की कोई छाया थी और न अहंकार की गंध, बिल्कुल सीधा सादा सरल उत्तर।

"अच्छा।" नरेन्द्र, स्वामी जी के उत्तर पर आश्चर्य चकित होकर बोला। पल भर बाद नरेन्द्र ने फिर प्रश्न किया कि, "क्या आप मुझे भी ईश्वर का दर्शन करा सकते हैं।"

"अवश्य।" दो ज्योतिर्मय आँखे नरेन्द्र के चेहरे पर केन्द्रित हो गयीं।

"कब और किस समय।" अब नरेन्द्र के स्वर में जिज्ञासा और अचरज भी घुला हुआ था।

"आज, अभी।" नरेन्द्र के सिर पर एक हाथ जा पहुँचा और हाथ सिर पर जाने के दूसरे ही पल नरेन्द्र की समाधि लग गयी।

यही बालक नरेन्द्र आगे चलकर योगिराज स्वामी विवेकानन्द के नाम से विश्व विख्यात हुए और इन पर हाथ रखने वाले सिद्ध महापुरुष थे, स्वामी रामकृष्ण परमहंस।

आध्यात्मिक शक्तिसम्पन्न सिद्ध पुरूषों और योगीजनों के लिए इस लोक या परलोक का कोई भी कार्य असंभव नहीं है। इस श्रेणी के लोग सर्व समर्थ होते हैं, तभी तो भगवान पतंजलि देव जी महाराज ने लिखा है कि—

कर्तुमकर्तुं अन्यथा कर्तुं
शक्तः शैवसिद्धः'

अर्थात् जो सब कुछ करने की सामर्थ्य वाला हो और किसी काम को कर देने पर उसके मन में यदि आये तो उसको फिर विपरित कर दें और विपरित कर देने पर भी यदि उसे मानसिक प्रसन्नता न हो तो फिर उसे ही दुबारा पूर्ववत् कर डाले— उसे सिद्ध कहते हैं।

भारत की इस पवित्र धरती का इतिहास शक्तिसम्पन्न महापुरूषों के चरित्रों से ओतप्रोत है। उदाहरणार्थ

ज्ञानेश्वर का चबूतरा चल पड़ा

गोदावरी के तट पर पुण—ताँवे क्षेत्र में योगी चांगदेव का आश्रम था। उस समय उनकी अवस्था लगभग चौदह सौ वर्ष की थी। योगी ज्ञानेश्वर से मिलने योगी चांगदेव अपने सैकड़ों शिष्यों के साथ एक भयंकर बाघ पर सवार होकर उनके आश्रम आलन्दी की तरफ चले। जब चांगदेव, ज्ञानेश्वर के आश्रम के करीब पहुँचे, उस समय योगी ज्ञानेश्वर अपने चारों सहोदर भाइयों एवं बहन मुक्ताबाई के साथ एक पत्थर के चबूतरे पर विराजमान थे।

चांगदेव को बाघ पर सवार होकर आते हुए देख योगी ज्ञानेश्वर ने चबूतरे से कहा कि चलो, योगी चांगदेव की अगवानी करना है। उनके आदेशानुसार चबूतरा चल पड़ा। चबूतरे को चलता देख योगी चांगदेव का सारा

अहंकार चूर हो गया। उनकी समझ में यह तथ्य स्वयं आ गया कि मैंने हिंसक जन्तुओं पर हुकुमत करने की शक्ति प्राप्त की है। तो योगी ज्ञानेश्वर प्रकृति के सभी चर और अचर पदार्थों पर शासन करने की शक्ति रखते हैं।

जला हुआ कागज अपने पूर्व रूप में

परमहंस विशुद्धानन्द जी से डा० गोपीनाथ कविराज ने प्रार्थना की कि स्वामी जी ! क्या कागज को जलने के बाद पुनः उसे उसी स्थिति में लाया जा सकता है। परमहंस जी ने उत्तर दिया कि हाँ ! इसके बाद परमहंस विशुद्धानन्द जी ने डा० गोपीनाथ कविराज से कहा, "तुम अपनी डायरी का एक कागज लेकर उस पर कुछ लिखो और उसे जला दो।"

डा० गोपीनाथ ने अपनी डायरी से एक पन्ना निकाला और उस पर कुछ लिख कर जला दिया। वह राख वहाँ रख दी गयी। उसके कुछ समय बाद स्वामी जी ने डा० गोपीनाथ कविराज के सामने ही कागज की राख को पुनः पूर्वत कागज के रूप में ला दिया। जब कविराज जी ने इसका रहस्य पूछा तो स्वामी विशुद्धानन्द जी महाराज ने कहा कि वस्तुतः कोई वस्तु नष्ट नहीं होती, केवल उसका रूप बदलता है और यौगिक विधि द्वारा पुनः उसे पहले वाले स्वरूप में लाया जा सकता है।

एक और यौगिक चमत्कारिक घटना का विवरण जो अपने सिद्धयोग सम्प्रदाय से संबंध रखती है, इस प्रकार है—

गुरू चित्र द्वारा वज्रपात से रक्षा

योगिराज श्री श्यामाचरण लाहिड़ी, अपने सिद्धयोग सम्प्रदाय के शिष्य हैं। हमारे, आपके और प्राणीमात्र के भाग्यविधाता, अकारण दयालु योग योगेश्वर महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज के यह कृपापात्र शिष्य रहे हैं। श्री श्यामाचरण लाहिड़ी की एक गुरू भक्त शिष्या ने अपने गुरू देव श्री लाहिड़ी महाशय से उनका (लाहिड़ी महाशय का) एक चित्र सुबह शाम आरती पूजन के लिए मांगा। लाहिड़ी महाशय ने अपना एक चित्र उसे प्रदान किया और कहा कि, "यद्यपि यह एक साधारण चित्र मात्र है किन्तु यदि तुम उसे रक्षा कवच समझोगी, तो यह रक्षा कवच ही सिद्ध होगा।"

लाहिड़ी महाशय की उस शिष्या ने बड़े ही भक्ति भाव से गुरूदेव भगवान के चित्र की पूजा अर्चना आरम्भ कर दी। एक दिन वह शिष्या चित्र की आरती पूजा के बाद, चित्र के सामने बैठकर 'श्री मद्भगवद् गीता' का अध्ययन कर रही थी। इतने में तेजी से झंझावात आया और वज्रपात आरम्भ हो गया। शिष्या डर गयी तथा चित्र के सामने सिर झुकाकर, रक्षा के लिए प्रार्थना करने लगी। प्रार्थना के समय ही तेजी से बिजली गिरी और बिजली वहीं गिरी, जहाँ पर शिष्या पाठ कर रही थी। परन्तु आश्चर्य ! महान आश्चर्य ! बिजली मेज पर रखी गीता पर गिरी और यह शिष्या बाल-बाल बच गयी। उस शिष्या ने अपने गुरूदेव श्री श्यामाचरण लाहिड़ी महाशय से इस घटना का वर्णन करते हुए बतलाया था कि जिस समय बिजली गिरी, उस समय मुझे ऐसा आभास हुआ कि मेरे चारों तरफ तथा नीचे, ऊपर बर्फ की दीवार मेरी रक्षा के लिए लगा दी गयी हो। साथ ही ऐसे विपद काल में मुझे बड़े आनन्द का अनुभव हो रहा है।

सही मार्ग

आधुनिक युग भौतिक युग है। दिन प्रतिदिन विज्ञान उन्नति की ओर अग्रसर होता जा रहा है। फिर भी मानव भयभीत, संत्रस्त एवं दुःखी है। इसका क्या कारण है ? इसका कारण है, सर्व समर्थ परमेश्वर को भूलते जाना

और भोगों के प्रति लिप्सा बढ़ते जाना। यह भोग लिप्सा और भोग शक्ति काम, क्रोध और मोह को उत्पन्न कर स्मृति तथा बुद्धि का नाश करती है। और प्राणीमात्र को गहरे गर्त में गिरा देती है। सही मार्ग से तात्पर्य उस मार्ग से है जिस पर चलने से पथिक को अक्षय सुख और आनन्द का अनुभव हो। संसार के सम्पूर्ण पदार्थों में एक ही परब्रह्म परमेश्वर विराजमान है। उसी परब्रह्म परमेश्वर से समस्त चराचर की उत्पत्ति हुई है, तथा वही सारे जगत में व्याप्त है। अपने समस्त सांसारिक कर्मों को करते हुए, यदि मनुष्य उसमें लिप्त न हो तो कुछ समय तक नित्य लगातर उस परमेश्वर का भजन और चिन्तन तथा मनन करके उसकी कृपाओं का अनुभव कर सकता है। इस प्रकार अपनी दिनचर्या नियमित कर परमेश्वर का सच्चा साधक बन सकता है। जो सांसारिक कार्यों की चिन्ता करता है, सावधान नहीं रहता, जब कि परमेश्वर का साधक सावधान होता है, सांसारिक कार्यों की चिन्ता नहीं करता। वह ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञान प्राप्त करने के अनेक साधन है। संसार में उपस्थित प्रत्येक वस्तु के विषय में ज्ञान, किसी न किसी विद्या द्वारा अवश्य ही प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु स्वयं के बारे में ज्ञान प्राप्त करने की भी कोई विद्या है ? अन्तः शोधन ऐसी विद्या है जिसके द्वारा हम जान सकें कि "मैं कौन हूँ, कैसा हूँ, कहाँ से आया हूँ और कहाँ जाना है।"

उपरोक्त सभी प्रश्नों का उत्तर मात्र केवल एक है और वह है 'योगविद्या'।

विवेकीजनों और सत्व प्रधान प्राणियों से यदि प्रश्न किया जाय कि जीवन का परम लक्ष्य क्या है, तो उनका उत्तर होगा जन्म मरण के चक्कर से छूटकर वास्तविक स्वरूप में स्थित होना। वास्तविक स्वरूप को इस प्रकार समझ लेना चाहिए कि जीव के अन्दर स्थित यह आत्मा परमात्मा का अंश है और परमात्मा में स्थित होना, स्वरूप में स्थित होना है। इस जीवात्मा और परमात्मा की समान अवस्था (स्वरूप स्थित) को समाधि कहते है। जैसे—

समाधिः समतावस्था

जीवात्मा परमात्मनः।

अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा की समतावस्था का नाम ही समाधि है।

समाधि योग का आठवाँ और अन्तिम अंग है। समाधि ही साधक को कैवल्य प्रदान करने का एकमात्र साधन है। भगवान पतंजलि देव जी महाराज ने ध्यान और समाधि के भेद को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि—

"तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्"

अर्थात् जहाँ, जिस वस्तु विशेष में चित्त को ठहराया जाय, उसमें वृत्ति का एक जैसी बनी रहना ध्यान है। जैसे—

"तदेवार्थमात्र निर्भासं

स्वरूपशून्यमिव समाधिः"

अर्थात् जिस अवस्था में केवल ध्येय मात्र की ही प्रतीति होने लगे और चित्त का अपना स्वरूप भी शून्य हो जाय, वह (ध्यान ही) समाधि है।

अन्नपूर्णोपनिषद् में समाधि का वर्णन बहुत ही सरल भाषा में सरल विचार से किया गया है जैसे—

समाधिः सविदुत्पतिः

परजीवैकता प्रति।

नित्यः सर्वगतो ह्यात्म

कूटस्थो दोषवर्जितः।।

यदा सर्वाणि भूतानि

समाधिस्थो न पश्यति।

एकीभूतः परेणासो तदा

भवति केवलः।।

अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा आत्मा की एकता का ज्ञान होना ही समाधि है। यह आत्मा नित्य सर्वव्यापी, कूटस्थ और निर्दोष है। यह समाधि में रहकर जब सभी भूतों को नहीं देखता वरन् परमात्मा के साथ एक रस हो जाता है, तब यह (जीवात्मा) परमब्रह्म ही हो जाता है।

इस प्रकार यह समझाने का प्रयत्न किया गया कि मनुष्य समाधि प्राप्त करने के बाद ही अपने वास्तविक लक्ष्य तक पहुँचता है। और समाधि क्या है, योग का आठवाँ और अन्तिम अंग। योग क्या है ? भगवान पतंजलि देव जी के शब्दों में—

चित्तवृतिनां निरोधः योगः।

अर्थात् चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग कहलाता है। निरोध् शब्द का अर्थ है, चित्त वृत्तियों का समूल उन्मूलन। अर्थात् प्रकृति और पुरूष की जो अनादिकालीन गांठ बनी हुयी चली आ रही है, उसका टूट जाना। उसी गाँठ का नाम अज्ञान ग्रन्थि है। यही अज्ञान ग्रन्थि ही पुरूष के बंधन का एकमात्र कारण है। इस अज्ञान ग्रंथि को समाप्त करने का एकमात्र साधन है 'योग'। भगवान पतंजलि देव जी ने योग को आठ भागों में विभक्त किया है—

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा ध्यान और समाधि।

इस प्रकार योग का विद्यार्थी योग के आठों अंगों का क्रमशः अभ्यास करता हुआ समाधि तक पहुँच जाता है और उस समय—

भिद्यते हृदयग्रन्थिः

छिद्यन्ते सर्व संशयाः।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि

तस्मिन्दृष्टे परावरे।।

अर्थात् कार्य और कारण रूप उस परात्पर परमात्मा के तत्व से जान लेने पर जीव के हृदय की वह अज्ञानता की पूरी गांठ खुल जाती है, जिसके कारण उसने इस जन्य शरीर को ही अपना स्वरूप मान रखा है। उसके सभी संशय नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार विद्या (अज्ञान) और कर्माशय के नाश हो जाने पर जीव सब बंधनों से मुक्त होकर व्यापक ब्रह्म तत्व में मिल जाता है।

अतः योग मार्ग ही एक ऐसा मार्ग है जिसे 'सही मार्ग' की संज्ञा दी जा सकती है। अतः प्रत्येक प्राणी का यह पुनीत कर्त्तव्य है कि वह सही मार्ग 'योग मार्ग' का पथिक बने। यहाँ इस बात की सलाह देना उचित समझता हूँ कि योग मार्ग पर चलने के लिए किसी योगाचार्य, योग वेत्ता, अनुभवी गुरू की शरण अवश्य ही ग्रहण कर लेनी चाहिये। वरना—**देखा देखी साधै योग। छीजै काया बाढ़ै रोग।।** वाली बात भी चरितार्थ होने का भय बना रह सकता है।

***

ज्ञानयोग और भक्तियोग

—डा. स्वामी केशवाचार्य (गुजरात)

भक्तियोग और ज्ञानयोग निःश्रेयस–प्राप्ति के दो मार्ग हैं। भवजाल से छूटने के तथा शाश्वत सुख उपलब्ध करने के अमोघ साधन हैं। ये परमार्थ के साधन ही नहीं वरं स्वयं परमार्थरूप हैं। अतएव इन दोनों को मोक्ष–लाभ का अचूक साधन मानना न्याय संगत ही है।

किन्तु भगवान श्री कृष्ण बड़ी चतुराई से केवल दो ही योगों का उल्लेख करते हैं—ज्ञानियों के लिए ज्ञानयोग और कर्मप्रवण स्वभाव वालों के लिए कर्मयोग। वे भक्तियोग का पृथक रूप में उल्लेख नहीं करते—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ (गीता ३/३)

'हे निष्पाप अर्जुन ! इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गयी है। ज्ञानियों की ज्ञानयोग से और कर्मयोग की निष्कामकर्मयोग से।'

क्या इसका अर्थ यह है कि श्री भगवान के मत से भक्ति में कर्म और ज्ञान दोनों के लक्षण घटते हैं, अतः कर्मयोग और ज्ञानयोग—इन दोनों मार्गों में भक्तियोग का भी समावेश हो जाता है। यदि भगवान श्री कृष्ण का वास्तव में यही भाव हो तो यह परम्परागत विचारधारा के साथ पूर्णतया मेल खाती है। वेद भी केवल दो ही मार्गों का प्रचार करते हैं। कर्मकाण्ड में वर्णित कर्ममार्ग और ज्ञानकाण्ड अथवा उपनिषदों में वर्णित ज्ञानमार्ग। किन्तु छान्दोग्य तथा वृहदारण्यक जैसे उपनिषदों में ज्ञान काण्ड के सर्वोच्च तत्वज्ञान के पहले बहुत सी विद्याओं या उपासनाओं अर्थात् मानसिक पूजा की विधियों का उल्लेख है। जिनमें उपासक की उपास्य का इस रूप में गाढ़ चिन्तन करने का आदेश दिया गया है कि उपास्य का उपासक के साथ और उपासक का उपास्य के साथ अभेद है। इसी को शास्त्रीय भाषा में **'अहंग्रहोपासना'** कहते हैं। उपनिषदुक्त उपासनाएँ भक्तियोग के ही पूर्व रूप हैं। क्योंकि भक्ति की प्रक्रिया तथा उपनिषद् प्रोक्त उपासनाओं में अत्यन्त विलक्षण साम्य है। इसलिए पुराणभूति में सहायक मात्र होने तथा ज्ञानप्राप्ति का एक मुख्य अंग होने के नाते वैदिक परम्परा में भक्ति की एक पृथक् योग अथवा मार्ग के रूप में गणना नहीं हुई है। दूसरे शब्दों में श्रुतियों के अनुसार एवं वैदिक परम्परा के सर्वापेक्षा सच्चे और मूलानुसारी व्याख्याता भगवान् श्री कृष्ण के मत से अत्यन्त अहंकार मूल कर्मकाण्ड तथा वेदान्त के सर्वोच्च तत्व निर्गुण ब्रह्म के बीच अवस्था का प्रतीक है—भक्तियोग।

योगस्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥ (श्री मद्भागवत् ११/२०/६)

'मनुष्यों के कल्याण–साधन के लिए ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग ये तीन योग (उपाय) मैंने कहे हैं। इनके अतिरिक्त (मोक्ष प्राप्ति) का और कोई उपाय कहीं नहीं है।'

यहाँ भी भक्ति का ज्ञान और कर्म दोनों के बाद उल्लेख करके भी भगवान् मानो यह मत प्रकट कर रहे

है कि भक्ति ज्ञान और कर्म का ही मधुर सम्मिश्रण है—वास्तव में है भी यही बात। अतः हमारे लिए भक्ति और ज्ञान—परमानन्द प्राप्ति के दो ही मार्ग बचे रहते हैं। किन्तु यहाँ स्वाभाविक ही यह प्रश्न उठता है—जैसा कि स्वयं अर्जुन ने उठाया था—कि दोनों में श्रेष्ठ कौन है। निर्गुण निर्विशेष ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाले ज्ञानी अथवा ईश्वर की प्रेमयुक्त अर्चना में अपना मन लगा देने वाले भक्त गण ?

एवं सतत युक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योग वित्तमाः।। (गीता १२/१)

पाँच सहस्त्र वर्ष पूर्व कुरुक्षेत्र के रणांगन में जिस प्रश्न को अर्जुन ने उठाया था, उसका उत्तर यद्यपि श्री भगवान ने कृपा करके संशय शून्य और स्पष्ट शब्दों में दे दिया है, फिर भी युग—युग में बार—बार उस प्रश्न को दुहराया गया है। काल के प्रवाह में कतिपय निरे बाह्य भेदों को लेकर भक्तियोग और ज्ञानयोग एक दूसरे से अधिकाधिक दूर हटते गये हैं, जिसके कारण सामान्यतया निःसंकोच यह बात कही जाती है—यद्यपि उनका यह कहना विवेकपूर्ण नहीं कहा जा सकता— कि ज्ञानयोग और भक्तियोग का एक दूसरे के साथ सर्वथा मेल नहीं है, वे एक दूसरे के साथ रह ही नहीं सकते, बल्कि दोनों निश्चय ही परस्पर विरोधी है। अब प्रश्न यह होता है कि ऐसी धारणा का मूल क्या है ?

भक्ति योग के सम्प्रदायों के तथा ज्ञानयोग के समर्थकों के बीच इस परस्परिक अविश्वास की भावना में हेतु है। समस्या को यथार्थ दृष्टिकोण से समझने की चेष्टा का अभाव। प्रत्येक पक्ष बिना व्यक्तिगत झुकाव का विचार किये यही सोचता है कि उसकी साधन—प्रणाली सबसे उपयोगी है। यह सर्व विदित कहावत है कि—'किसी को बैंगन पथ्य है, किसी को जहर समान'। आध्यात्मिक अनुभूति के राज्य में भी उतना ही सत्य है, जितना दैनिक जीवन के व्यवहार में। इस बात को सब लोग जानते हैं कि कुछ व्यक्ति यथार्थवादी दृष्टिकोण रखते हैं। साथ ही अत्यन्त भाव प्रवण प्रकृति के तथा रसिक होते हैं। भक्ति योग मार्ग निःसन्देह ऐसे ही लोगों के लिए है। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, यद्यपि उनकी संख्या अपेक्षाकृत कम है। जो आदर्शवादी होते हैं जिनकी बुद्धि बड़ी पैनी होती है और जिनका दृष्टिकोण निरावैज्ञानिक होता है। ऐसे व्यक्तियों के लिए होता है—ज्ञान योग का कठोर पथ। भगवान श्री कृष्ण ने स्वयं इस बात को यह कहकर स्पष्ट कर दिया है कि उनके प्रति जिनकी अविचल और सच्ची भक्ति है वे उन्हें अधिक सुगमता से प्राप्त कर लेते हैं। इसके विपरीत जो लोग अपनी विद्रोही इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके पूर्ण समता एवं समस्त भूत प्राणियों के प्रति सहानुभूति के द्वारा कूटस्थ एवं अनिवर्चनीय ब्रह्म के चिन्तन में डूबे रहते हैं। वे भी उन्हीं को प्राप्त करते हैं, यद्यपि उनका मार्ग श्रमपूर्ण तथा असंख्य विघ्न— बाधाओं से संकुल होता है।

इसलिए भिन्न—भिन्न अधिकारियों, भिन्न—भिन्न प्रकृति के लोगों के लिए उपयुक्त होने पर भी भक्तियोग और ज्ञानयोग दोनों का ही लक्ष्य ठीक एक ही है। संक्षेपतः, उपाय—रूप में साधन—प्रणाली की दृष्टि से भक्तियोग और ज्ञानयोग परस्पर सर्वथा विरोधी होने पर भी समान रूप से दोनों एक ही हैं। यद्यपि यह बात कट्टर भक्ति

योगियों के गले कठिनाई से उतरेगी, फिर भी हम पराभक्तियोग और ज्ञानयोग की एकता को प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं।

किन्तु दोनों की एकता की प्रामाणिकता को ठीक–ठीक हृदयगंम करने के लिए ज्ञान योग और भक्तियोग की सीमा एवं स्वरूप का स्पष्ट बोध होना अनिवार्य है। तब प्रश्न होता है कि ज्ञानयोग क्या है, और भक्तियोग क्या है।

उपनिषद् जो ज्ञान के सर्वश्रेष्ठ उत्स हैं, यह घोषणा करते हैं कि आत्मसाक्षात्कार करना चाहिये। और उसके सहायक रूप में श्रवण अर्थात् प्रातः स्मरणीय परम पूज्य श्री सद्गुरुदेव (श्री चन्द्रमोहन जी महाराज) के श्रीमुख से निःश्रित महावाक्यों में प्रतिपादित परम सत्य को सुनना, इस प्रकार प्राप्त सत्य के तत्व का मनन करना और निदिध्यासन अर्थात् अन्त में इस सत्य की आकट्य प्रामाणिकता में अचल विश्वास करना–ये उपाय बताते हैं–

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्योनिदिध्यासितव्यः। (वृह० उ० २/४/५)

'यह आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान किये जाने योग्य है।'

किन्तु यह आत्मा है क्या वस्तु ? आत्मा हमारे भीतर निगूढ़ रहने वाला हमारा अपना स्वरूप है। वह वास्तव में ब्रह्म ही है।

''अयमात्मा ब्रह्म''। (माण्डूक्य उ. १/२)

'यह आत्मा ही ब्रह्म है'। और ब्रह्म क्या है ? इसके विषय में सचमुच निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। जो कुछ भी ज्ञात है, उससे यह भिन्न है, और जो कुछ अज्ञात है, उससे परे है।

अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि'। (केन उ० १/३)

कोई भी यह दावा नहीं कर सकता कि मैंने इसे पूर्ण रूप से जान लिया है, क्योंकि यह अज्ञेय है।

अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्। (केन उ० २/३)

जो लोग इसे जान लेने का दावा करते हैं, उन्होंने वास्तव में इसे नहीं जाना, और जो लोग इसे जानने का दावा नहीं करते उनके द्वारा यह जाना हुआ है।

हमारी जानी हुई किसी वस्तु के सदृश यह नहीं है। तथापि कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो इससे बाहर स्थित हो, क्योंकि ब्रह्म में सबका समावेश है।

''अथात् आदेशो नेति–नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत् परमस्ति।'' वृहदारण्यक उप० २/३/६)

इसके पश्चात 'नेति–नेति' यह ब्रह्म का आदेश है। 'नेति–नेति' इससे बढ़कर कोई उत्कृष्ट आदेश नहीं है।

तो क्या उसके स्वरूप के विषय में कुछ भी कहना नहीं बनता ? वृहदारण्यक कहता है–नहीं, ऐसा सम्भव नहीं है। निषेधवाक्यों की श्रृंखला से भले ही उसका एक प्रकार से वर्णन किया जा सकता है–वह स्थूल नहीं है, सूक्ष्म नहीं है, छोटा नहीं है, बड़ा भी नहीं है, न तो वह चमकदार है, न छायामय, न उसका किसी वस्तु से लगाव है वह स्वादहीन, गन्धहीन, श्रोत्रहीन, चक्षुहीन, वाणीरहित, मनरहित, एवं प्राणरहित है। वह न तो अबाह्य है, न

वाह्य, न भक्षक है न भक्ष्य,—"अस्थुलमणणु"। इत्यादि। उपनिषद कहता है ब्रह्म परम—सत्—सर्वोच्च—सत्ता है। 'सत्यम'। वह परम चित् है—'ज्ञानम्' है। और वह कालातीत है अतएव शाश्वत तथा अन्त रहित है— 'अनन्तम्'। (सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म) (तैतिरीयोप० २/१) ठीक है, किन्तु वह नित्य—सत्य—ज्ञानरूप ब्रह्म मनुष्य के लिए, जो सनातन सुख के लिए लालायित है, किस पार्थिव उपयोग का है ? उपनिषद् कहते हैं कि यह ब्रह्म ज्ञान का सार ही नहीं, अपितु परमानन्द स्वरूप भी है—**विज्ञानामनन्तं ब्रह्म** (वृह० उ० ३/९/२८) वह केवल स्वयं आनन्दरूप ही नहीं, जो उसे जान लेता है उसे भी वह आनन्द से आप्लावित कर देता है—

'रसो वै सः' रस् ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।' (तैत्तिरीय उ० २/७/१)

ब्रह्म भले ही वैसा हो, जैसा कि उपनिषद् उसका वर्णन करते हैं किन्तु दुःख में डूबे हुए, संसार के जाल में फँसे हुए, तथा जन्म मृत्यु के बहाव में निरन्तर बहते हुए सदा अपूर्ण हम दीन मनुष्य ब्रह्म को जानकर क्या पा लेते हैं ? अब उपनिषद् उस चौका देने वाले तथा सहसा विश्वास में न आने योग्य सत्य को व्यक्त करते हुए कहते हैं— तुम्हीं वह ब्रह्म हो—**स आत्मा तत्वमसि**'— (छान्दोग्य उ० ६/१५/३) और **'मैं ब्रह्म हूँ'— अहं ब्रह्मास्मि**—(वृह०उ० १/४/१०) इस पर हम पुकार उठते हैं— 'यह तो असम्भव है'। कहाँ वह सच्चिदानन्द मय ब्रह्म और कहाँ हम मृत्यु लोक के प्राणी, उससे इतने भिन्न कि दया आती है हमारी भिन्नता पर। अविद्या मूलक यह अनादि भेद दृष्टि, यह द्वैत—भावना ही समस्त मानव दुःखों का मूल कारण है। ब्रह्म से भिन्न होने की इस मिथ्या भावना—इस माया को ही जीवन की इस दुःखमय स्थिति का हेतु बतलाया गया है। कठोपनिषद् इस सत्य को यह कहकर हृदयंगम कराता है कि जो भी द्वैत—दृष्टि रखता है, उसे अनंत काल के लिए जन्म मृत्यु के अनन्त प्रवाह में बहना पड़ेगा—

मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति। (कठ उ० २/१/११)

जो पुरुष यहाँ इस जगत् में नानात्व—सा देखता है, वह एक मृत्यु से दूसरी मृत्यु को जाता है। अन्यत्व की, द्वैत की भावना ही भय का मूल कारण है। **'द्वितीयाद्वै भयं भवति'**।

किन्तु यह कैसे हो सकता है कि हम अपने जीवन में प्रत्येक मोड़ पर भेद, द्वैत का दर्शन करते हैं। उपनिषद् वर्तमान उन तथ्यों की जो हमारे सामने हैं, अवहेलना करके जिससे कोई भिन्न सत्ता नहीं बतायी जाती—ऐसे निर्गुण ब्रह्म की स्थापना करने का साहस कैसे कर सकें ? सहस्त्रों श्रुति वाक्य भी चाहे वे कितने भी प्रमाणभूत क्यों न हों, घट को पट में नहीं बदल सकते— **'नहि श्रुतिशते नापि घटं पट पितुमीशते'**। उपनिषदों के निष्कर्ष कल्पना प्रसूत हो सकते हैं। बुद्धि को चमत्कृत कर देने वाले हो सकते है। किन्तु वे सत्य तो हो नहीं सकते। उपनिषदों के सम्बन्ध में नम्र से नम्र शब्दों में हम इतना ही कह सकते हैं।

किन्तु ऐसा है नहीं। उपनिषदों की विशेषता यही है कि वे हमारे लिए उस विषय पर प्रकाश डालते हैं, जिसे हम जानते ही नहीं, और वे हमें अबाधित परम सत्य का ज्ञान कराते हैं।

अनधिगताबाधितार्थबोधजनकत्वं **वेदानाम्**। अथवा **अज्ञातज्ञापनपरत्व मुपनिषदाम्**। उपनिषद् यदि हमारी द्वैत भावना का ही समर्थन करते, तब तो उनकी चरितार्थता हमारी बात की पुष्टि में ही होती, किन्तु उपनिषदों का उद्देश्य तो है उस परम सत्य का बोध कराना जिसको यदि जाना जा सकता है तो केवल सर्वोच्च अन्तर्ज्ञान से, जो महावाक्यों द्वारा ही प्रबुद्ध होता है।

थोड़ी देर के लिए यह मान लें कि उपनिषद् परम सत्य को प्रकाशित करते हैं, परन्तु उसकी सत्यता का क्या प्रमाण है ? भोजन की परीक्षा तो उसे चखकर ही की जा सकती है। तो उपनिषद् प्रतिपादित सत्य का साक्षात्कार भी किसी ने किया है ? हाँ, इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि शुक, वामदेव, त्रिशंकु (एक औपनिषदिक ऋषि) और याज्ञवल्क्य ने उस परिच्छिन्न आनन्दमय ब्रह्म का अपने अन्दर साक्षात्कार किया था अतएव उपनिषदों की शिक्षा कोरी कल्पना नहीं हो सकती। वह निश्चित ही सत्य होनी चाहिये।

जगत की वास्तविकता की यथार्थ मात्रा का निरुपण नहीं किया जा सकता। वह अनिर्वचनीय है। अधिक बोधगम्य भाषा में कहें तो यह संसार नाम रुपात्मक प्रपञ्च के रूप में असत् है, किन्तु ब्रह्म के रूप में सदा ही सत् है। इसी प्रकार हम लोग भी असंख्य जीवों के रूप में असत् हैं, किन्तु एक ब्रह्म के रूप में सदा सत् हैं। दृश्य जगत की यथार्थता की ठीक–ठीक मात्रा का निरूपण करना कठिन है। यह एकान्तिक तथा शाश्वत रूप से सत् नहीं है। क्योंकि ऐसे क्षण भी आते है जब कि बाह्य जगत् अपनी सत्ता को खो बैठता है—जैसे हमारी स्वप्न अवस्था अथवा निद्रा की प्रगाढ़ अवस्था में। संक्षेप में, यदि यह एकान्तिक रूप से सत् हो तो कभी इसका ज्ञान लुप्त नहीं होना चाहिये। और यदि यह एकान्तिक रूप से असत् हो तो कभी इसका ज्ञान होना ही नहीं चाहिये। **'सच्चेत् न बाध्येत्, असच्चेन्न प्रतीयेत**। अतएव बाह्य संसार सत् और असत् दोनों है। सारांश, यह मिथ्या है।

सत्ता की तीन अवस्थाएँ है। संसार में रचे–पचे अज्ञानी के लिए जगत् और असंख्य जीव सर्वथा सत् हैं। अर्थात् इन सबकी 'व्यावहारिक सत्ता' है। पर जिनके भीतर श्री सद् गुरुदेव की कृपा से ब्रह्म ज्ञान का आलोक उतर चुका है, उनके लिए जगत की सत्ता केवल ऊपरी छाया मात्र है। जैसे मरुभूमि में मरीचिका की। इसी को 'प्रातिभाविक सत्ता' कहते हैं। किन्तु जिन्होंने अपने को ब्रह्म में लीन कर दिया है अर्थात् जो मुक्त हो गये हैं, उनके लिए केवल मात्र ब्रह्म ही निरपेक्ष सत् है। अन्य कुछ है ही नहीं। यही **'पारमार्थिक सत्ता'** है। इस पारमार्थिक सत्ता की अनुभूति में सारे व्यवहार शान्त हो जाते हैं, जैसे जागने पर स्वप्न जगत् लुप्त हो जाता है। सत्ता की इन तीनों अवस्थाओं का तात्पर्य समझ लेना परम आवश्यक है। अन्यथा उपनिषदों का ज्ञानमार्ग हमारे लिए नितरां अगम्य ही रहेगा। अतएव यह निष्कर्ष निकला कि अद्वैत अथवा पारमार्थिक दृष्टि से केवल ब्रह्म ही सत् है।

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।

किन्तु व्यवहार क्षेत्र अथवा व्यावहारिक दशा में जगत् सत् है, नाना जीव भी सत् है और ईश्वर अर्थात् मायोपाधिक ब्रह्म ही जगत के जीव समूह की नियति का नियन्ता है। जगत्पति के रूप में ईश्वर अर्थात् सगुण ब्रह्म

सर्वज्ञ एवं तेजोमय भास्कर है। उनका प्रत्येक संकल्प परम सत्य है। वे समस्त गुणों के आगार हैं। —छान्दोग्य के शब्दों में वे हैं—

प्राण शरीरो भारूप: सत्य संकल्प: सर्व काम: सर्व गन्ध: सर्व रस:। (छान्दोग्य ३/१४/२)

सांसारिक बन्धन में पड़े हुए मनुष्य को अविचल एवं अनुरागपूर्ण भक्तियोग से युक्त होकर परमेश्वर की शरण में जाना चाहिये तथा अपने सम्पूर्ण कर्मों को अर्पित कर देना चाहिये। सारांश, अपने को सर्वतोभावेन अनुराग युक्त श्रद्धा के साथ प्रभु को अर्पण कर देना चाहिये। तब अज्ञान का आवरण हट जायेगा। तभी परम सत्य को अनुभव करने की इच्छा उत्पन्न होगी। और तब प्रात: स्मरणीय परम पूज्यपाद महायोगिराज श्री सद्गुरुदेव श्री चन्द्रमोहन जी महाराज द्वारा उसका ज्ञान प्राप्त होगा। तब जीव की भक्तियोग का पर्यवसान अभेद भक्ति में हो जाता है। और यह अभेद भक्ति योग कोई असम्भव स्थिति नहीं है। क्योंकि उपनिषद् उपासक को उमेद उपासना के लिए आग्रह पूर्वक प्रेरित करते हैं। कोई भी अन्य उपासक जो अपने इष्टदेव से अपने को भिन्न मानता है, वह पशु तुल्य है। अपने इष्टदेव के लिए केवल एक भारवाही पशु के समान है।

अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्। (बृह उ० १/४/१०)

वास्तव में जो उपासक अपना अपने उपास्य ईश्वर के साथ अभेद सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, वह ईश्वर का आत्मा (स्वरूप) ही बन जाता है—

"आत्मा ह्येषां स भवति"। (बृहदा०)

ऐसे अभेदोपासक को सगुण ईश्वर सर्वोच्च ज्ञान, अखण्ड निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार प्रदान करता है। जहाँ समस्त दृश्य प्रपंच विलीन हो जाता है। और जिसमें जीव अपने व्यष्टि भाव को सदा के लिए त्याग कर उसी प्रकार अवलीन हो जाता है जैसे सागर में नदी।

यथा नद्य: स्यन्दमाना: समुद्रे,
ऽस्तं गच्छन्ति नाम रुपे विहाय।
तथा विद्वान् नाम रुपाद विमुक्त:,
परात् परं पुरुषं मुपैति दिव्यम्।। (मुण्डक उ० ३/२/८)

जिस प्रकार निरन्तर बहती हुई नदियाँ अपने नाम रूप को त्याग कर समुद्र में लीन हो जाती है, उसी प्रकार विद्वान् नाम–रूप से मुक्त होकर परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार ज्ञान केवल बुद्धिगत निश्चय ही नहीं है। कोरी कल्पना की उड़ान नहीं है। वह एक निश्चित सत्ता है, एक अनिवर्चनीय अनुभूति है, परम पुरुषार्थ है। ईश्वर की कृपा के बिना ब्रह्म की साक्षात् एवं चरम अनुभूति रूप ज्ञानयोग का एवं भक्ति योग का ज्ञान होना या उदय होना सम्भव नहीं हो सकता है। **"सद्गुरुनुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना"**। श्री सद्गुरुदेव के अनुग्रह मात्र से ज्ञानयोग भक्तियोग प्राप्त हो जाता है।

* * *

पूर्ण सद्गुरु की पूर्ण कृपा—एक प्रसंग

श्रीमती सरिता भारद्वाज, दिल्ली

वीतराग परमहंस योगेश्वर श्री शुकदेवजी महाराज जन्म से ही ज्ञान और वैराग्य से परिपूर्ण थे। उनका जन्म कर्मफल भोगने के लिए माया के बंधन से नहीं हुआ था अपितु आत्माराम मुक्तिभाजन संसार से विरक्त उच्च—आत्माओं को भक्ति—योग और ज्ञान की सिद्धि प्रदान करने के लिए हुआ था। उनके बारे में यह प्रसिद्ध है कि वे जन्म लेने के कुछ समय पश्चात निःस्पृह भाव से वन की ओर निकल पड़े। उनको रोकने के लिए उनके पिता श्री व्यासदेव जी महाराज 'हे पुत्र ठहरो ! हे पुत्र ठहरो' कहते हुए उनका पीछा कर रहे थे किन्तु वे मोह—माया के बन्धनों में पड़ने वाले कब थे ? उनका हृदय **'सर्वभूतहितेरताः'** के भाव से भरा हुआ था और —भगवान श्रीकृष्ण की **'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः'** की वे साकार मूर्ति थे। उन्हें कण—कण में भगवान की सत्ता के अतिरिक्त और किसी का बोध नहीं था—फिर कौन किसका पिता और कौन किसका पुत्र ? कहा जाता है कि एक दिन वे सरोवर के किनारे से निकले जहाँ नारियों का समूह निर्वस्त्र होकर स्नान कर रहा था। नवयुवक श्री शुकदेव को देखकर नारियों को बिल्कुल संकोच नहीं हुआ और वे बेखबर होकर जल—क्रीड़ा करती रहीं। थोड़ी देर बाद जटा—जूट धारी उनके वृद्ध पिता श्री व्यासदेव जी उधर से निकलने लगे तो नारी समूह अपने—अपने वस्त्र लेकर लज्जायुक्त होकर शरीर को ढकने लगीं। श्री व्यासदेव जी उनकी इस नादानी को देखकर ठिठके और उन नारियों से पूछने लगे कि तुम्हारा इस प्रकार का व्यवहार मेरे आश्चर्य को बढ़ा रहा है। एक युवक द्वारा तुम निर्वस्त्र अवस्था में देख ली गईं फिर उस अवस्था में तुम्हें लज्जा व संकोच नहीं हुआ और मुझ वृद्ध को देखकर तुम्हारे अन्दर संकोच व लज्जा का भाव क्यों उदय हुआ ? नारियों ने कहा—आप बहुत बड़े महात्मा हैं किन्तु आपके अन्दर कामवासना स्मृति के रूप में विद्यमान है परन्तु जिसे आप अपना युवक पुत्र मान रहे हैं वह वीतराग परमहंस कोटि की मुक्त आत्मा है। उसके मन में स्वप्नावस्था में भी कामवासना का स्पर्श नहीं हुआ। ऐसे निर्मल मन के दर्शन से हमारा जीवन पवित्र हुआ फिर लज्जा व संकोच कैसा ?

वेदों का विभाग करने वाले पुराणों के रचयिता और श्रीमद्भागवत् पुराण जैसे समाधिदाता रस—सागर की रचना करने वाले व्यास जी नारियों के उत्तर से आत्म—निरीक्षण करने लगे उनके मन से मोह का पर्दा हटा और उन्हें अपने पुत्र के वास्तविक स्वरूप का परिचय मिला।

श्री शुकदेवजी महाराज शुद्धबुद्ध मुक्त सिद्ध कोटि के योगेश्वर हैं जो उच्च कोटि के जीवों के कल्याण के लिए समय—समय पर निर्माण—काय से प्रकट होते रहते हैं। जब राजा परीक्षित को अपने राजदर्प में अन्धे होकर ध्यानस्थ शमीक ऋषि के गले में सर्प डालकर ऋषिपुत्र के शाप से अपनी मृत्यु को आमन्त्रण दे डाला तब होश में आने पर अपनी मूर्खता पर पछतावा हुआ लेकिन 'अब पछताए क्या होत है, जब चिड़ियाँ चुग गईं खेत।' उन्होंने सभी ऋषियों और मनीषियों को बुलाकर अपनी मृत्यु सुधारने का उपाय पूछा। सभी ने अपनी योग्यतानुसार जप, तप, योग अनुष्ठानादि के लंबे साधनों का उपदेश किया। राजा किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर गंगा—किनारे शुकताल पर आ गए। तभी ऋषियों को चिन्तातुर देखकर परमहंसों के आचार्य शुकदेवजी भी वहाँ उपस्थित हो गए। ऋषियों को उनके आगमन पर आश्चर्य हुआ। तभी ऋषियों ने धर्मशील राजा की सात दिन में कैसे मुक्ति हो सकती है—यह जानने के लिए विनयपूर्वक शुकदेवजी से प्रार्थना की। श्री शुकदेवजी ने कल्पवृक्ष के पके हुए मधुर अमृत भरे फल

के सदृश समाधि प्रदान करने वाले श्रीमद्भागवत का रसपान करने का परामर्श दिया। राजा की प्रार्थना पर श्री शुकदेवजी व्यासपीठ पर आसीन हुए और राजा परीक्षित और सभी ऋषि लोग भूख–प्यास की चिन्ता छोड़ भागवत के अमृत रस का पान कर निर्विकल्पक समाधि की स्थिति को प्राप्त करने में सक्षम हो गए। परिपूर्ण गुरु ही परिपूर्णता दिला सकता है। आधा–अधूरा गुरु मंझधार में डुबो देता है।

श्रीशुकदेवजी किसके शिष्य थे इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता तथापि सन्त परम्परा में यह प्रसिद्ध है कि श्री शुकदेवजी महाराज ही सद्गुरु व्रजराज किशोरी जगदात्मा श्री कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति श्री राधा हैं। जैसे व्रजचन्द्र श्री कृष्ण चन्द्र अपनी नित्य आह्लादिनी शक्ति से सदा एकरस रहते हैं। वैसे ही श्री शुकदेवजी महाराज श्रीराधा से नित्ययुक्त है। सन्तों की मान्यता है कि वे अपने सद्गुरुदेव को अपने मन–मन्दिर से बाहर एक क्षण भी प्रकट नहीं कर पाते क्योंकि उनका वियोग उन्हें असह्य है। इसीलिए श्री मद्भागवत में कहीं भी श्रीराधा का नामोल्लेख नहीं किया है। एक स्थान पर शुकदेव जी के साथ 'श्री शुकदेव उवाच' यह कथन मिलता है। श्री मद्भागवत रसिकों की मान्यता है कि श्री शब्द श्रीराधारानी के लिए प्रयुक्त हुआ है और उनके स्मरण मात्र से कथा कहते–कहते श्री शुकदेवजी महाराज को समाधि लग गई। यह वास्तविकता है कि अपने सद्गुरुधन को जो छिपाकर रखता है, उसके साथ सतत् युक्त रहता है, वह अपनी स्वरूप प्रतिष्ठा में सदा एकरस बना रहता है। उसका व्युत्थान दशा में आने का प्रश्न ही कहाँ उठता है ?

श्रीशुकदेवजी महाराज के सतत् युक्त अलौकिक सिद्ध स्वरूप को सुनकर परम भक्त सहजो बाई के गुरु श्री चरणदास जी महाराज के मन में उत्कट इच्छा जगी कि मैं साक्षात् श्री शुकदेवजी महाराज से ही दीक्षा ग्रहण करूँगा और उन्हीं का श्रीसद्गुरुदेव रूप में वरण करूँगा। मन में ऐसा दृढ़ निश्चय लेकर वर्तमान मुजफ्फरनगर में स्थित शुकताल में श्री चरणदास जी कठोर तप करने लगे। उनके दृढ़ निश्चय, कठोर तप और शुभ संकल्प से आकृष्ट होकर श्री शुकदेवजी महाराज को निर्माण काय से उपस्थित होकर श्री चरण दास महाराज को शाम्भवी दीक्षा देकर कृतार्थ करना पड़ा। परिपूर्ण सद्गुरु की दीक्षा पाकर उनके अन्दर ज्ञान, भक्ति, योग और वैराग्य जगमगाने लगा और हरिरस पीकर आत्ममस्त हो गए। और वे उस दशा का वर्णन करते हुए गाते हैं–

समझ रस कोइक पावै हो।
गुरु बिन तपन बुझै नहीं, प्यासा न जावै हो।।
बहुत मनुष ढूँढत फिरैं, अंधरे गुरु सेवैं हो।
उनहूँकों सूझै नहीं, औरनकों देवैं हो।।
अंधरेकों अँधरा मिलै, नारीकों नारी हो।
हाँ फल कैसे होयगा, समझैं न अनारी हो।।
गुरु सिष दोऊ एक से, एकै व्यवहारा हो।
गयो भरोसे डूबिकै वै, नरक मँझारा हो।।
सुकदेव कहैं चरनदास सूँ, इनका मत कूरा हो।
ग्यान सुकति जब पाइये, मिलै सतगुरु पूरा हो।।

परमगुरु श्रीशुकदेवजी की कृपा पाकर ज्ञान की पराकाष्ठा में आसीन हो आनन्दानुगत समाधि का आनन्द

लाभ करते हुए सहजोबाई जैसी शिष्या को भी कृत–कृत्य करने में समर्थ हुए। अपनी अनुभव दशा का वर्णन एक पद में इस प्रकार करते हैं–

यह पुरुषोत्तम मेरा यार।
नेह लगी टूटै नहिं तार।।
तीरथ जाऊँ न बर्त करूँ।
चरनकमल को ध्यान धरूँ।।
प्रानपियारे मेरेहिं पास।
बन–बन माहिं न फिरूँ उदास।।
पढ़ूँ न गीता–वेद–पुरान।
एकहिं सुमिरूँ श्री भगवान।।
औरनकों नहिं नाऊँ सीस।
हरि ही हरि हैं बिस्वे बीस।।
काहूकी नहिं राखूँ आस।
तृस्ना काटि दई है फाँस।।
उद्यम करूँ, न राखूँ दाम।
सहजहिं ह्वै रहैं पूरन काम।।
सिद्धि मुकति फल चाहौं नाहिं।
नित ही रहूँ हरि संतन माहिं।।
गुरु सुकदेव यही मोहिं दीन।
चरनदास आनँद लवलीन।।

स्वयं कृतार्थ होकर सद्गुरुतत्व में स्थित होकर सहजोबाई को चरनदास ने शक्तिपात दीक्षा देकर कृतार्थ कर दिया और वह गाने लगीं –

हमारे गुरु पूरन दातार।
अभय दान दीनन को दीनहैं, कीन्हें भव–जल–पार।।
जन्म–जन्म के बंधन काटे, यमको बंध निवार।
रंकहुते सो राजा कीन्हें, हरि–धन दियो अपार।।
देवैं ज्ञान भक्ति पुनि देवैं, योग बतायनहार।।
तन मन बचन सकल सुखदाई, हिरदे बुधि उँजियार।।
सब दुख गंजन पातक भंजन रंजन ध्यान बिचार।
साजन दुर्जन जो चलि आवै, एकहि दृष्टि निहार।।
आनन्दरूप स्वरूपमई है, लिप्त नहीं संसार।
चरनदास गुरु सहजो केरे, नमो–नमो बारंबार।।

***

योगस्वरुप–दिग्दर्शन

लेखक–श्री आनन्दघनराजजी

संसार में एक भी ऐसी वस्तु नहीं है जिसमें योगशक्ति अपना काम न करती हो। यही योगशक्ति मूलस्वरूप को, उसके अखण्ड और शाश्वत होते हुए भी, गतिरूप से भिन्न–भिन्न नामरूप में दिखाती हुई, पुनः अभिन्न स्वरूप में पहुँचाने का काम किया करती है।

यह मानव जन्म उन्नति की गति के मध्य में है और वह इसीलिये प्राप्त हुआ है कि योगशक्ति के समुचित उपयोग के द्वारा वह मूल केन्द्र में प्रवेश करके सर्वज्ञान, सर्वानन्द और सर्वसत्ता से परिपूर्ण हो। इसलिये इस स्वभाव सिद्ध योगशक्ति का दुरुपयोग करके अवनति को प्राप्त न होकर प्रत्येक मनुष्य अपने स्वभावानुरूप उसका उपयोग करें और पहले प्रेयसम्पन्न होकर पीछे श्रेयसम्पन्न हो।

इसी काम के लिये मनुष्य को शरीर और मन मिला है। फिर इन दोनों साधनों को क्रिया करने और स्वस्थ रहने की दो शक्तियाँ भी प्राप्त है। योगशक्ति के ये ही दो मूलरूप हैं। इस प्रकार साधन और सामर्थ्य मिलाकर चार हुए। इनके कारण मनुष्य में स्वभावतः ही उन्नति के चार मार्ग बन जाते हैं और उन्हीं से मनुष्य में स्वभावसिद्ध चार भेद होते हैं।

१. स्वभावतः ही शरीर क्रियावान् है।

२. स्वभावतः ही शरीर स्वस्थ है।

३. स्वभावतः ही मन क्रियावान है।

४. स्वभावतः ही मन स्वस्थ है।

इनसे जो चार मार्ग बनते हैं उनमें से कौन मार्ग कस स्वभाव के अनुसार किस मनुष्य के लिये अधिक स्वाभाविक होने से सुलभ हैं यह विज्ञ पुरुषों ने जाना है और स्वभाव धर्मानुकूल योगाभ्यास का भी निर्देश किया गया है–

(१) **शरीरक्रिया**–स्वभावी मनुष्य के लिये कर्मयोग मार्ग है।

(२) **शरीरस्वास्थ्य**–स्वभावी मनुष्य के लिये समाधियोग मार्ग है।

(३) **मनःक्रिया**–स्वभावी (चंचल) मनुष्य के लिये भक्तियोग मार्ग है।

(४) **मनःस्वास्थ्य**–स्वभावी मनुष्य के लिये ज्ञानयोग मार्ग है।

इस प्रकार योग के कर्म, योग, भक्ति और ज्ञान ये चार भेद हो गये हैं तथापि लक्ष्य सबका एक ही है। अर्थात् जीव को ईश्वर बनाकर पुरुषोत्तमपद प्राप्त करना। जीव को पुरुषोत्तम स्वरूप प्राप्त कराने वाला जो योग है वही यथार्थ में योग है।

१. **कर्मयोग**–कर्म करने वाले इन्द्रियों को सदा कर्म करते रहने का जो अभ्यास है उसके अनुसार उन्हें ऐसे कर्मों में लगाना जिनसे शरीर शुद्ध और मन पवित्र हो तथा उन्नति साधित हो, कर्मयोग है।

२. **समाधियोग**—इन्द्रियों को स्तब्धता में खिंचे रहने का जो अभ्यास है उस अभ्यास के अनुसार उसे (आसन पर स्थिर होकर) ऐसे विचार या ध्यान में लगाना जिससे शरीर शुद्ध और मन पवित्र हो तथा सम्प्रज्ञात समाधि की क्रिया के होते हुए उन्नति हो, समाधियोग है।

३. **भक्तियोग**—क्रियावान् चंचल स्वभाव मन को उसकी विषयासक्ति की बान के अनुसार आसक्तिमत नामरूपात्मक पदार्थ मात्र में ईश्वर–भावना और तत्युक्त प्रीति उत्पन्न करके शरीर को शुद्ध और मन को पवित्र करते हुए उन्नति साधने का जो साधन है वह भक्तियोग है।

४. **ज्ञानयोग**—मनःस्वास्थ्य–स्वभावी शान्त मनुष्य का स्वस्थ निश्चिन्त रहने का जो अभ्यास है उसके अनुसार उसी स्वस्थता और निश्चिन्तता में शरीर शुद्धि और मनःपावित्र्य सम्पादन कर उन्नति करते हुए मोक्ष सुख में रत करने का जो मार्ग है वह ज्ञानयोग है।

इस प्रकार से चार मुख्य मार्ग हैं। तथापि मन और शरीर एकत्र होने के कारण तथा एकत्र होकर भिन्न स्वभाव के कारण दोनों को मिलाने वाले मिश्र मार्ग का ही सदा अवलम्बन करना पड़ता है। चतुर्विध स्वभाव के कारण मिश्र मार्ग भी चार प्रकार के बनते हैं—

१. चंचल शरीर और चंचल ही मन के लिये कर्मयुक्त भक्तियोग मार्ग।

२. चंचल शरीर और स्थिर मन के लिये कर्मयुक्त ज्ञानयोग मार्ग।

३. स्थिर शरीर और चंचल मन के लिये भक्तियुक्त योगमार्ग।

४. स्थिर शरीर और स्थिर मन के लिये ज्ञानयुक्त योगमार्ग।

इस प्रकार योगसाधन चाहे मुख्य मार्ग से हो अथवा मिश्र मार्ग से, उसका लक्ष्य समाधि ही है। समाधि–अवस्थाओं में एक प्रेयस् की प्राप्ति के लिये है, वह पहले प्राप्त होती है और उसे **सम्प्रज्ञात समाधि** कहते हैं; दूसरी श्रेयस् की प्राप्ति के लिये है, वह पीछे प्राप्त होती है और उसे **असम्प्रज्ञात समाधि** कहते हैं।

प्रत्येक मार्ग का योगज्ञान कराने वाले गुरु अत्यन्त दुर्लभ होने के कारण इस विषय में लोगों में बड़ा भ्रम फैला है। इस भ्रम को दूर करने के लिये ही यह लेख लिखा गया है।

योग से समाधि सधती है। इसका अभिप्राय बहुत से लोगों ने यह समझ रखा है कि हठयोग से श्वासोच्छ्वास–निरोध के द्वारा कुम्भक साधे बिना, समाधि नहीं सध सकती। परन्तु यह ख्याल गलत है। योग, उपयुक्त प्रकारों में से कोई–सा भी हो उससे समाधि प्राप्त होती है और इसी के लिये उसकी आवश्यकता है। प्रत्येक मार्ग से समाधि साधकर प्रेयस् और श्रेयस् कैसे प्राप्त करना होता है यह योगिवर्य पतंजलि ऋषि ने अपने सूत्रग्रन्थ में स्पष्ट बताया है।

समाधिपाद का द्वितीय सूत्र है—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः

चित्त की वृत्तियों का निरोध करके उन्हें अपने वश में कर उनसे अपना इष्ट कार्य कराने के लिये उन्हें सम्प्रज्ञात समाधि में ले जाना ही योग है।

यह सम्प्रज्ञात योगस्थिति प्राप्त कराने का काम प्रत्येक योगमार्ग से होता है यह बात निम्नलिखित सूत्रों में उन्होंने स्पष्ट ही बतलायी है।

१. ईश्वरप्रणिधानाद्वा (२३) ईश्वर की उपासना से अर्थात् भक्ति योग से।

२. तज्जपस्तदर्थभावनम् (२८) जपसे अर्थात् कर्मयोग से। इसी विषय में सूत्र ३३ से ३९ तक के सूत्र देखिये।

३. प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य (३४) प्राणवायु के विशेष रूप से धारण और उच्छ्वसन से। (यह भी समाधि साधने का एक तीसरा मार्ग है।)

इस प्रकार कर्म, भक्ति और योग इन तीनों मार्गों से सम्प्रज्ञात अर्थात् सबीज समाधि प्राप्त होती है, यही कहा गया है। पहले यह सम्प्रज्ञात समाधि लाभ करके, आगे बढ़ने के लिये प्रेयस् की उन वासनाओं को त्यागना पड़ता है जो पूर्व जन्म में पूर्ण हो चुकी हैं और जो अब इस जन्म में वैराग्य और निष्काम वृत्ति के साधन में बाधक हो रही हैं। कोई भी प्रबल वासना तृप्त होकर जब तक निर्वासित नहीं होती तब तक निरीहता, निःसंकल्पता और विरक्तता नहीं प्राप्त होती। चाहे यह कार्य पूर्वजन्म में हो चुका हो अथवा वर्तमान जन्म में हो उसका होना अनिवार्य है, क्योंकि यह सृष्टिधर्म का सिद्ध नियम है।

इस सम्प्रज्ञात समाधि का अधिकार प्राप्त कर चुकने के पश्चात् असम्प्रज्ञात समाधि को साधकर मोक्ष लाभ करना होता है। ईश्वर प्रणिधान के द्वारा जो सम्प्रज्ञात समाधि लाभ करते हैं उन्हें तो आप ही मोक्ष प्राप्त होता है पर अन्य मार्गियों को ज्ञानयोग के द्वारा प्राप्त करना होता है। ज्ञानयोग का यह योग समाधिपाद के तीसरे सूत्र में कहा गया है— **तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्**। 'तब द्रष्टा स्वरूप में अवस्थित होता है।' इस प्रकार आरम्भ के सूत्रों में वर्णित सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधियों के विवेचन के लिये ही पातंजल योगदर्शन का प्रवर्तन हुआ है।

वेद और सब धर्मग्रन्थ योग और योगांकों का ही ज्ञान बतलाने के लिये अवतीर्ण हुए हैं।

एतद्रूप योग से प्राप्त होने वाली समाधियों के सम्बन्धों में व्यर्थ ही जो गूढ़ता—सी मालूम होती है वह दूर हो और योग के सम्बन्ध में किसी प्रकार का भ्रम न रहे, इसलिये संक्षेप में दो—एक बातें यहाँ लिखना आवश्यक प्रतीत होता है।

प्राणायाम से समाधि—साधन का जो योग है वह नित्य की सहज श्वसनक्रिया के ज्ञानपर और नियन्त्रण पर निर्भर होने से हमलोगों के लिये कुछ कठिन नहीं है। जन्म से मृत्यु तक यह श्वासोच्छ्वास कर्म हमारे साथ लगा हुआ है। योगशास्त्र ने केवल इतना ही बतलाया है कि प्रेयस् और श्रेयस् की प्राप्ति के लिये उसका किस प्रकार उपयोग करना चाहिये। थोड़े अभ्यास से यह साधन बनता है।

इस योगाभ्यास में नाक से अन्दर जानेवाली वायु से शरीर में ऑक्सिजन जाता है। इस ऑक्सिजन से विद्युत और विद्युत से प्राणतेज का आकर्षण होता है और उससे जीवन—व्यापार चलता है। इसी तेज का संचय मेरुदण्ड और मस्तक में होने से समाधि लग जाती है और जीवन बना रहता है। जब फेफड़ों में वायु का जाना कम या बन्द होकर समाधि लगती है तब यह प्राणतेज वायु से लेकर शरीर के अन्दर पहुँचाने का काम शरीर की त्वचा के द्वारा होता है, क्योंकि त्वचा भी फेफड़ों की सहकारिणी है। जब फेफड़ों को और त्वचा को भी वायु का स्पर्श

न हो, इस प्रकार से जमीन के अन्दर समाधिस्थिति में शरीर रखा जाता है और उस हालत में भी शरीर जीवित रहता है, तब बाहर की वायु से तो प्राणतेज नहीं मिलता; तब यह होता है कि ज्ञानतन्तु जाल में जो चक्र है। उनका कार्य आरम्भ होता है और मेरुदण्ड तथा मस्तिष्क में प्राणतेज भर जाता है अर्थात् कुण्डलिनी जागकर अपना काम करती है। इसी से जीवन बना रहता है।

इस प्रकार जिस किसी भी साधन से समाधि लगे, वही योग है। योग से ही प्रेयस् और श्रेयस् की प्राप्ति होती है।

योग साधन में 'लय' और 'विक्षेप' ये जो दो चित्त के स्वरूपान्तर हैं उन्हें हमारे आचार्य विघ्नरूप मानते हैं, पर पाश्चात्य विद्वान् 'लय' को ही योग मान बैठे हैं।

योग की व्याख्या: इन्द्रियों सहित मन की जो लय–विक्षेप–रहित एकतानता और एकाग्रता है वही योग है। इस योगस्थिति में आत्मज्ञान के साथ रहना ही मोक्ष है। इस मोक्षज्ञान और अनुभव के लिये ही योग ज्ञान आवश्यक है।

* * *

जनमानस में से दुष्प्रवृतियों को हटाकर उनके स्थान पर सद्प्रवृतियों की स्थापना करना अत्यन्त ही उच्च कोटि का एवं महत्वपूर्ण कार्य है। पूर्व काल में लोकनायक तथा मार्ग–दर्शक ऋषि–मुनि गण आत्म–शक्ति से सम्पन्न थे। वे केवल वाणी से ही नहीं अपनी आन्तरिक महानता की किरणें फेंककर जनमानस को प्रभावित करते रहे। मस्तिष्क की वाणी मस्तिष्क तक पहुँचती है तथा आत्मा की आत्मा तक। कोई सुशिक्षित व्यक्ति अपनी ज्ञान–शक्ति का लाभ सुनने वालों को उनकी जानकारी बढ़ाने के लिए वाणी द्वारा देता है। किन्तु अन्तःकरण में जमी हुई आस्ता में परिवर्तन का कार्य ज्ञान से नहीं आत्म–शक्ति से ही सम्पन्न हो सकता है। प्राचीन काल के ऋषि–मुनि इस तथ्य को भली–भाँति जानते थे। इसीलिए वे दूसरों को उपदेश देने में वाणी द्वारा सेवा करने में कम तथा अपना आत्म–बल में अधिक समय लगाते थे, तपस्या करते थे।

त्याग और लोकसेवारूप योग

लेखक—रेवरेण्ड आर्थर ई० मैसी

'यदि कोई मनुष्य मेरा अनुसरण करना चाहता है तो वह अपना अहंकार त्याग दे और प्रतिदिन अपना क्रॉस उठाकर मेरे पीछे हो ले।'१ (ल्यूक ९/२३)

योग के द्वारा मुक्ति तभी मिल सकती है जब उसकी सारी प्रक्रियाओं और पद्धतियों में त्याग और लोकसेवा की प्रधानता हो, क्योंकि मायिक परिच्छिन्न जीव की प्रत्येक चेष्टा व्यर्थ होती है। ईश्वर प्रेमरूप है और प्रेम में विधि की पूर्णता है। जहाँ प्रेम की प्रधानता है वहाँ त्याग, त्याग नहीं रह जाता; क्योंकि प्रेम में केवल प्रेमास्पद का ही ध्यान रहता है, अपना ध्यान बिल्कुल नहीं रहता। वास्तव में प्रेम ही सब कुछ है, जिसे हम अहंकार कहते हैं वह तो प्रतीतियों का एक निरा ढेर है जो हमारी भेद–बुद्धि को दृढ़ करता हुआ हमें उस एक एवं अद्वितीय सत्ता के साथ एकता का अनुभव नहीं करने देता। प्रत्येक सच्चा योगी एवं प्रत्येक सद्गुरु ज्ञानपूर्वक परमात्म योग के प्रकाश में विचरता है, उसके अतिरिक्त किसी दूसरी वस्तु को न तो वह जानता है और न इच्छा करता है। वह जगत् के परस्पर विरोधी स्वरों को अपने कानों के समीप नहीं जाने देता, अपने अहंकार युक्त विचारों और अनुभूतियों को शान्त कर देता है और उस आभ्यन्तर प्रकाश की सहायता से संसार के कार्य करता है जो प्रकाश प्रत्येक वस्तु के वास्तविक स्वरूप को प्रकट करता है। वह यथार्थ मार्ग को ही देखता और ग्रहण करता है और यथार्थ बात ही करता है। प्रेमरूप शक्ति को ग्रहण कर उसे सब लोगों को वितीर्ण करना ही उसका कार्य होता है, अतएव मनुष्य शरीर को तो वह अपने आपको सर्वतो–भावेन जनतारूप जनार्दन की सेवा में उत्सर्ग कर देने का एक सुन्दर अवसर समझता है। सद्गुरु और आन्तरिक ज्योति में कोई अन्तर नहीं है, इसलिये सद्गुरु या योगी बनना ही प्रत्येक कल्याणकामी पुरुष का ध्येय होना चाहिये। हम लोग विच्छिन्न व्यक्तियाँ नहीं हैं, अपितु एक ही शरीर के अंग हैं, और यदि हम में से कोई एक भी प्रभु की पूर्णता प्राप्त करने की चेष्टा करे तो वह सारा समष्टि शरीर ही ऊँचा उठा हुआ अनुभव करेगा। क्योंकि शरीर के एक अंग में पीड़ा होने पर अन्य समस्त अंगों को उस पीड़ा का अनुभव होता है, अथवा एक अंग के पूजित होने पर समस्त अंगों को प्रसन्नता होती है। इसलिये, यह जानकर कि दुःख से चरित्र की दृढ़ता होती है, हमको दुःख भी आनन्दित होना चाहिये। एक अंग की पुष्टि से सारा शरीर पुष्ट होता है और जगत् में उसकी क्षमता बढ़ती है, अतः त्याग और लोकसेवा योग का विशुद्धतम एवं सर्वोत्कृट रूप है। "मैं उनके अन्दर रहता हूँ और मेरे अन्दर वे रहते हैं जिससे कि वे पूर्ण होकर 'एक–मेवाद्वितीयम्' बन जायँ।"

प्रेम के बिना परमात्मा से मिलने की सारी आकांक्षाएँ, योग की सारी प्रक्रियाएँ और उसके विविध प्रकार व्यर्थ एवं निष्फल हैं। प्रेम नवीन जीवन प्रदान करने वाली तथा पवित्र करने वाली महान् एवं अमोघ शक्ति है। 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' बनने की सतत चेष्टा से ही मनुष्य के आध्यात्मिक शरीर अथवा आत्मा का विकास एवं

---

1 "If any man would come after Me, let him deny himself and take up his cross daily and follow Me."7 (Luke IX, 23)

अभिव्यक्ति होती है। हमारा आध्यात्मिक स्वरूप स्वयं पूर्ण होने पर भी सदा किसी ऐसे साधन की खोज में रहता है जिसके द्वारा वह मानव जाति की सेवा एवं सहायता कर सके और हमारे अन्दर सेवा और सहायता करने की जितनी योग्यता एवं क्षमता आती है उतनी ही मात्रा में ईश्वर हमारे द्वारा अपनी इच्छा और अभिसन्धि को पूर्ण करते हैं।

सेवा के मार्ग में पैर रखने के पूर्व हमें जाति, वर्ण, रंग, धर्म अथवा स्त्री–पुरुष के भेद को सर्वथा भुला देना होगा, नहीं तो हम कदापि इस कार्य में सफल नहीं हो सकते; क्योंकि प्रेम की दृष्टि में मनुष्य मात्र उस 'एकमेवाद्वितीयम्' के ही अनेक रूप हैं, अतः उनमें छोटे–बड़े की कल्पना भी नहीं हो सकती।

मनुष्य के लिये परमात्मा को खोजने की आवश्यकता नहीं है, जितनी अधिक उसकी खोज की जायेगी उतना ही अधिक वह दुर्लभ होता जायेगा। क्योंकि किसी कवि ने ठीक ही कहा है–

'वह (परमात्मा) प्राण से भी समीप है और हाथ–पैर से भी निकट है।'१ जब जीव अपनी युगान्तव्यापिनी मोहनिद्रा से जागता है, जब भौतिक विचार का आवरण उसकी दृष्टि के सामने से हट जाता है और वह ब्रह्म साक्षात्कार के समीप पहुँच जाता है, उस समय उसे यह दिव्य अनुभव होता है कि 'मेरे अन्दर अब 'अहम्' (मायिक क्षुद्र अहंभाव) नहीं रहा, बल्कि स्वयं प्रभु प्रतिष्ठित हो गये हैं।'२ और इस प्रकार वह सच्चा त्यागी एवं लोकसेवक योगी बन जाता है।

बाहरी वेष, कर्मकाण्ड, प्रतिमापूजन, तपश्चर्या आदि सभी आत्मा के विकास में सहायक हैं, यद्यपि इनमें से कोई भी अनिवार्य नहीं है। किन्तु ध्येय की प्राप्ति होते–होते ये सब साँप की केंचुली की भाँति अवश्य छूट जाते हैं और जब कुछ भी नहीं बच रहता **तब वहाँ स्वयं भगवान् आ विराजते हैं**। इस भौतिक जगत् के लिये 'भवाटवी' और 'दुःखालय' आदि शब्दों का प्रयोग इसीलिये किया गया है कि हम इसे मूर्खतावश प्रकृति तटीका एक नश्वर खेल न समझकर प्रत्यक्ष एवं सत् मान बैठे हैं। अतएव ये कष्ट, निर्वेद एवं यन्त्रणाएँ जिनका हम जीवन में अनुभव करते हैं सभी इस रूप में आवश्यक हैं कि वे हमें सनातन सत्य तत्व का–उस अलौकिक शान्ति का लक्ष्य कराते हैं जो हमारी बुद्धि में भी नहीं आ सकती ("Peace that passeth all understanding") प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक स्पिनोजा (Spinoza) ने एक जगह कहा है कि 'ईश्वर का लक्षणों के द्वारा निर्देश करना उसका अपलाप करना है' (To define God is to deny Him)। उनका यह कहना सर्वथा सत्य है, क्योंकि जितना ही अधिक हम ईश्वर का लक्षणों के द्वारा निर्देश करने की चेष्टा करते हैं उतना ही अधिक हम उस अपरिच्छिन्न को परिच्छिन्न अथवा ससीम बनाते हैं। अतः सभी विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों, दर्शनों, आचार्यों एवं अधिकारी पुरुषों को नमस्कार कर निरन्तर एवं दृढ़तापूर्वक मौन का ही अभ्यास करना श्रेयस्कर है, जिससे हम अपने हृदयस्थित अन्तरतम प्रदेश में परमात्मा का संयोग प्राप्त कर उनके साथ आलाप

---

1 "Closer is He than breathing,
Nearer than hands and feet."

2 "Not 'I' but Christ that liveth in Me."

करें और अन्त में उन्हीं के अन्दर अपने आपको विलीन कर दें—जिन परमात्मा को उपनिषदों ने 'एकमेवाद्वितीयम्' कहा है तथा जिनके अतिरिक्त और कोई सत्य वस्तु है ही नहीं।

इस बात को जान लेना श्रेयस्कर है कि परमात्मा ही प्रकृति के द्वारा अपनी अभिसन्धि को पूर्ण कर रहे हैं।

"सर्वप्रथम वाष्पसदृश धूम्रवर्ण ज्योति उत्पन्न हुई और तदनन्तर ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र आदि की सृष्टि हुई। इसके अनन्तर खनिज पदार्थों एवं शंख, सीप आदि की उत्पत्ति हुई; इसके अनन्तर छोटी—छोटी मछलियाँ एवं बिसतोइया आदि जीव उत्पन्न हुए और फिर उन गुहाओं और कन्दराओं की रचना हुई जिनमें जंगली मनुष्य रहने लगे। इसके बाद मनुष्यों को कानून एवं सौन्दर्य ज्ञान हुआ और अन्त में उनकी दृष्टि पार्थिव पदार्थों के परे आत्मा की ओर गयी। कुछ लोग उत्पत्ति के इस क्रम को परिणाम या विकास कहते हैं और दूसरे लोग इसी को ईश्वर के नाम से पुकारते हैं।"[3] हाँ, प्रकृति कोई बिरानी अथवा ईश्वर से भिन्न वस्तु नहीं है, बल्कि उन्हीं का निःश्वास है। एक सच्चे योगी की दृष्टि में प्रकृति ईश्वर का ही प्रत्यक्ष रूप है, विश्वात्मा का शरीर है। 'तुम्हारी ज्योति में ही हमें प्रकाश का दर्शन होता है।' प्राकृतिक शक्तियाँ परमात्मा के सनातन कर्म का—जगत् के अन्तःस्थित उनके सजीव संकल्प का द्योतन करती है। ईसा ने जिस सत्य का उपदेश दिया उसकी पूर्व के आत्मवित् योगियों को नये ढंग से व्याख्या करनी होगी। ईसामसीह पूर्वीय आचार्य थे। उनका प्राकृतिक जगत् के साथ जो गाढ़ परिचय था, उन्हें मनुष्य के अन्तःकरण का जो परिज्ञान था, उन्होंने सहानुभूति, प्रेम और सेवा का जो रहस्यमय सिद्धान्त संसार के सामने रखा, उनका छोटे बच्चों, दीन—दुनियों, पापियों और पतितों—उन पथभ्रष्ट प्राणियों के प्रति जिन्हें संसार उपेक्षा की दृष्टि से देखता है किन्तु जगत् का वह महान् मातृहृदय जिन्हें सदा आलिंगन करने के लिये प्रस्तुत रहता है,—उनके प्रति उनका जो विशेष प्रेम था, उनकी एकान्तप्रियता जो शोक के सौन्दर्य को प्रकट करती थी, उनकी उत्सर्गजनित कोमलता, उनकी सौम्य वाणी और उससे भी सौम्यतर मौन, उनकी प्रेम और विनयपूर्ण आचारनीति, उनका हृदयस्थित परमात्मा के साथ संयोग स्थापित करने वाला धर्म, उनका विशुद्ध जीवन, उनकी मृत्यु जिससे उन्होंने संसार को सनातन परमात्मा के पवित्र हृदय का परिचय दिया—अवश्य ही ये सब बातें पूर्व के आदर्शवादी योगियों को सहज ही हृदयंम हो सकती हैं और इन्हीं के द्वारा की जाने वाली व्याख्या से पाश्चात्य जगत् के आध्यात्मिक जीवन का पुनरुत्थान होगा। हमलोग संसार के इतिहास में एक नवीन युग का आरम्भ देख रहे हैं, जगत् के पुनर्जन्म का काल उपस्थित है, प्राचीन व्यवस्था का स्थान नवीन व्यवस्था ग्रहण कर रही है। समाज, शासन व्यवस्था, दार्शनिक सिद्धान्त एवं धर्म, सभी का नये ढंग से पुनर्निर्माण होने वाला है और इस कार्य

---

3 "A fire-mist and a planet,
A crystal and a shell,
A jelly-fish and a saurian,
And caves where the cave-men dwell;
Then a sense of law and beauty,
And a face turned from the clod;
Some call it Evolution,
And others call it God."

में पूर्व और पश्चिम दोनों ही अपने–अपने ढंग से योग देंगे। पाश्चात्य जगत् भावी संसार को वैज्ञानिक संघटन, नैतिक शक्ति और राजनैतिक प्रगति का पाठ पढ़ायेगा; वह व्यक्तित्व का मूल्य और परिस्थिति का महत्व बतायेगा और कर्म के सिद्धान्त का समर्थन करेगा, और प्राच्य जगत् उसकी इस आवश्यक शिक्षा को प्रसन्नता एवं कृतज्ञतापूर्वक ग्रहण करेगा।

यह सब ठीक है; परन्तु पश्चिम को भी उच्चतर जीवन के गहन तत्वों का अनुशीलन करने के लिये, पुरातन ज्ञान को आत्मसात् करके उसका अपनी दैनिक आवश्यकताओं में उपयोग करने के लिये, योगियों की–सी दृष्टि प्राप्त करने के लिये, प्रकृति को केवलमात्र वैज्ञानिकों की प्रयोगशाला न समझकर उसे आत्मा के मन्दिर रूप में देखने के लिये, ध्यान का अभ्यास करने के लिये, और इस बात को भलीभाँति समझ लेने के लिये कि कर्म ही उपासना नहीं है अपितु उपासना भी एक आवश्यक कर्म है, पूर्व की ही शरण लेनी होगी। पाश्चात्य देशवासियों के लिये अभी यह सिद्धान्त समझना बाकी है कि सत्य कोरी कल्पना नहीं है अपितु आत्मा के अनुभव का विषय है और उसकी उपलब्धि केवल आलोचना–प्रत्यालोचन से अथवा पदार्थों का बुद्धि के द्वारा विश्लेषण करने से नहीं हो सकती, अपितु उसके लिये सहृदयतापूर्ण आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि और उसी प्रकार के जीवन की अपेक्षा है। प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक शोपनहॉर उस दिन का स्वप्न देखा करते थे जब पूर्व की ज्ञानगंगा पश्चिम की ओर बह निकलेगी। जिस दिन वह काल पूर्ण–रूप से आ जायेगा उस दिन पूर्व के रहस्यमय ज्ञान का विकासवाद की अपेक्षा कहीं गहरा प्रभाव पड़ेगा। उस समय भिन्न–भिन्न विश्व धर्मों के प्रति योरप की दृष्टि बिल्कुल बदल जायेगी और वहाँ के निवासी इस बात को भली भाँति समझ जायेंगे कि सत्य का किसी धर्म विशेष ने ठेका नहीं ले रखा है, ईश्वरीय ज्ञान के प्रकाश की कहीं इतिश्री नहीं हो गयी और रहस्यमय ज्ञान में एक ऐसा समन्वय–तत्व है जिससे अन्त में जाकर पूर्व और पश्चिम दोनों परस्परिक सौहार्द एवं सामंजस्य, तथा एक दूसरे के प्रति त्याग और सेवा के अटूट पाश में बँधकर एक हो जायेंगे, यही योग का प्रारम्भ और यही उसका चरम लक्ष्य है।

(कल्याण से साभार)

स्वार्थमय उपायों एवं अभिप्रायों को पूर्णतः त्याग दो। वे आपको परिच्छिन्न रखते हैं। समस्त वासनाएँ राग हैं। व्यक्तिगत अथवा शरीरगत प्रेम आसक्ति है। उसे भूल जाओ और पवित्र हो जाओ। इससे आपका शरीर स्वस्थ तथा बुद्धि पूर्ण स्वरूप हो जायेगी। अपनी आत्मा में डूब जाना सबसे बड़ा परोपकार है।

विनय

जय जय गुरुदेवा जय महादेवा,
सत्य रूप भगवाना।
जय जन हितकारी, नर तनुधारी,
योग सुधा बरसाना।।
नेपाल निवासी घट-घट वासी,
दुःखित जीव जब जाने।
तब तजि सिंहासन कमलाआसन,
अमृतसर प्रभु आने।।
पुरवासी आये पुष्प चढ़ाये,
पूजन बहु विधि कीन्हा।
तब कृपा-निधाना, सब गुण खाना,
चितवन शंकरदीन्हा।।

जय जय सिद्धेश्वर श्री विश्वेश्वर,
सकल संत प्रिय कंता।
जय दीन दयाला, करत उजाला,
दुःख दारुण तुम हन्ता।।
तुम आये सवांई गुफा बनाई,
नाम सिद्ध देहि डारा।
निज शक्ती देवत, ज्ञान करावत,
गहे चरण जग सारा।।
तासों प्रभु मोरी, दुई कर जोरी,
विनय एक सुनि लीजै।
उर बसहुं निरन्तर श्री पद सुन्दर,
आशीष मुझको दीजै।।

SIDDHYOG Regd. No. L. AG. 008 नवम्बर, 1999

प्रेषण कार्यालय :

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक उच्चकोटि का हिन्दी मासिक
श्री सिद्धगुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र
सवांई (एत्मादपुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER
Book-Post

श्री ----------

तिस्रो माता मृत्युमत्थ प्रयुक्त अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः।
क्रियासु बाह्याभ्यन्तर मध्यमासु सम्यक्प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः।।

प्रश्नोपनिषद।

अर्थात् : ओंकार की तीन मात्राएँ ('अ', 'उ' तथा 'म') एक दूसरी से संयुक्त रहकर प्रयुक्त की गयी हों, या पृथक-पृथक एक-एक ध्येय के चिन्तन में इनका प्रयोग किया गया हो (दोनों प्रकार से ही वे) मृत्यु युक्त हैं, बाहर, भीतर व बीच की क्रियाओं में पूर्णतया इन मात्राओं का प्रयोग किए जाने पर उस परमेश्वर को जानने वाला ज्ञानी विचलित नहीं होता।

प्रकाशक एवं मुद्रक—विनय गजानन शर्मा द्वारा कर्मयोग प्रिण्टिंग प्रेस, बसई कलाँ, राजमंज, आगरा के लिए राष्ट्रीय ब्लाक एवं प्रिण्टिंग वर्क्स, जीहरी बाजार, आगरा से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र सवांई, (एत्मादपुर) आगरा से प्रकाशित। फोन : 732326